श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ मई—१९९५ अंक—५

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा–८४१ ३०१ (बिहार)

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ मई—१९९५ अंक—५

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा' ॥

सम्पादक।

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-४२५३६

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५० रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

सादे कांच में किसी वस्तु का चित्र नहीं उतरता, परन्तु उसमें यदि मसाला लगा हो तो बराबर उतरता है, जैसे फोटो का कांच। इसी प्रकार शुद्ध मन में यदि भक्तिरूपी मसाला लगा रहे, तो भगवान का रूप आदि प्रत्यक्ष होता है। नहीं तो केवल शुद्ध मन में भक्ति के विना भगवान का रूप देखने में नहीं आता।

(२)

जिसकी भगवान में भक्ति हो गयी है, उसका भाव कैसा होता है, जानते हो ?—मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो; मैं घर हूँ, तुम घरवाले हो; मैं रथ हूँ, तुम रथी हो; जैसा कहलाते हो, वैसा ही कहता हूँ, जैसा कराते हो, वैसा ही करता हूँ; जैसा चलाते हो, वैसा ही चलता हूँ।

(३)

माँ के पाँच वच्चे हैं। उसने किसी को खिलौना, किसी को गुड़िया और किसी को खाना देकर भुला रखा है। उनमें से जो खिलौना फेंककर 'माँ-माँ' कहकर रोने लगता है, माँ झट उसे गोदी में उठाकर शान्त करने लगती है। हे जीव, तुम कामिनी-काँचन में भूले हुए हो। यह सब फेंककर जिस समय तुम जगन्माता के लिए रोने लगोगे, उसी क्षण वह आकर तुम्हें गोदी में ले लेगी।

(४)

धन आदि मुझे नहीं मिला, मुझे लड़का नहीं हुआ, यह कह-कहकर लोग आँसुओं की धारा बहाया करते हैं, परन्तु मुझे भगवान नहीं मिले, उनके चरण कमलों में मेरी भक्ति नहीं हुई यह कहकर क्या कोई अपनी आँखों से एक बूंद भी आंसू गिराता है ?

परब्रह्म स्तोत्रम्

ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय ॥१

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ त्वमेकं परं निष्कलं निर्विकल्पम् ॥२

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियंतृ त्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम् ॥३

परेश प्रभो सर्वरूपाविनाशिन्ननिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य ।
अचिंत्याक्षर व्यापकाव्यक्ततत्त्व जगद्भासकाधीश पायादपायात् ॥४

तदेकं स्मरामस्तदेकं भजामस्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्बोधिपोतं शरण्यं व्रजाम ॥५

पंचरत्नमिदं स्त्रोत्रं ब्रह्मणः परमात्मन ।
य पठेत्प्रयतो भूत्वा, ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात् ॥६

भावार्थ—ॐ हे, सकल संसार के आश्रय, सत्स्वरूप ! तुम्हें नमस्कार है । हे, विश्वरूपात्मक चित्-स्वरूप ? तुम्हें नमस्कार है । हे, अद्वैत तत्त्वस्वरूप एवं मुक्तिदाता तुम्हें नमस्कार है । हे, सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्म ! तुम्हें नमस्कार है ।१।

इस संसार में एकमात्र तुम्हीं आश्रयस्थल हो, एकमात्र तुम्हीं वरेण्य हो, एकमात्र तुम्हीं जगत् के कारण और विश्वरूप हो, एकमात्र तुम्हीं संसार के स्रष्टा, पालक और संहारक हो, एकमात्र तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ निष्कल एवं निर्विकल्प हो ।२।

एकमात्र तुम्हीं भयसमूहों के भय, भीषणगणों के मध्य भीषणतम, प्राणियों की गति, पवित्रों के पवित्र, अत्यन्त उच्च पदों से अधिष्ठितों के विधाता, श्रेष्ठों में श्रेष्ठतम एवं रक्षकों के रक्षक हो ।३।

हे, परमेश्वर, प्रभु, विश्वरूप, अविनाशी, अनिर्देश्य, समस्त इन्द्रियों के लिए अगम्य, सत्य, अचिन्त्य, अक्षर, व्यापक, अव्यक्त तत्त्व, जगत्-प्रकाशक अधीश्वर—अनिष्ट होने पर तुम हमलोगों की रक्षा करो ।४।

उसी अद्वितीय का हम स्मरण करते हैं, उसी अद्वितीय का भजन करते हैं, उसी अद्वितीय, जगत् के साक्षी स्वरूप को हम प्रणाम करते हैं, सत्स्वरूप, निधान, निरालम्ब परमेश्वर, भवसागर की नाव और आश्रय स्वरूप का हम आश्रय ग्रहण करते हैं ।५।

जो एकाग्रचित से परब्रह्म परमात्मा के इस पंचरत्न स्तोत्र का पाठ करेंगे, वे ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करेंगे ।६

सम्पादकीय सम्बोधन

तेरा साईं तुज्झ में

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक कहानी कहीं पढ़ी थी। किसी जंगल से दो शिकारी गुजर रहे थे। शिकार को चले थे। बीच जंगल में पहुँचने पर एक शिकारी ने दूसरे से कहा—'मित्र, जंगल तो बड़ा भयानक है।' दूसरे ने कहा—'हाँ'। और दोनों आगे बढ़ गये।

शिकारियों की बातें कुछ पेड़ों ने सुनीं। घबड़ा गये वे। हैरान हो गये। जंगल क्या चीज होती है? क्या वह बाघ, सिंह या आदमियों से भी अधिक भयानक, खतरनाक होता है? उनकी घबड़ाहट बढ़ती गयी। अन्त में आम के पेड़ ने कटहल से कहा—'कुछ सुनी तुमने, उन शिकारियों की बातें? यहाँ कोई जंगल आ गया है। भयानक है। उससे बचना चाहिए। मगर क्या तुमने जंगल देखा है?' कटहल तो साफ नकार गया। उसने कभी जंगल देखा ही नहीं था। फिर एक-एक कर बाँस से, बबूल से, जामुन से, अमरूद से पूछा गया। किसी को जंगल का पता नहीं था। तब सियार से पूछा गया—'भाई, तुम पंडित हो। तुम ने जंगल देखा है?' उसने कहा—'मैं यहाँ हर पेड को जानता हूँ। गाँवों और शहर में भी कभी-कभार चला जाता हूँ। पर्वत और नदियों को भी जानता हूँ। मगर जंगल तो मैंने कहीं नहीं देखा।' बाघ और सिंह ने भी अपनी अज्ञानता जतायी। साँप ने कहा—'मैं पाताल तक जाता हूँ। जंगल कहीं नहीं है।' अन्त में सबने बूढ़े बरगद के वृक्ष से पूछा। अपनी अज्ञानता में वह भी मौन हो गया। फिर बोला—'भाई, मेरा अनुभव बताता है कि आदमी का कभी विश्वास मत करो, उसकी बात पर भरोसा मत करो। वह बड़ा खतरनाक जीव होता है। चालबाज और मक्कार होता है। जो कहीं नहीं है, उसके बारे में बोल कर हम सब में दहशत पैदा कर गया है। लौटें तो उन दोनों को पकड़ो और तब तक न जाने दो जब तक वे जंगल का पता न दे दें।'

ऐसा ही हुआ। शिकारी लौट रहे थे। उन्हें बाघ सिंह, सियार, साँप और भालू-बन्दर—सबने घेर लिया। सबने गरज-गरज कर, दाँत किटकिटा कर और फुत्कार कर उनसे पूछा—'बताओ जंगल कहाँ है?' शिकारियों ने कहा—'जंगल, यही तो जंगल है! तुम सब ही तो जंगल हो।' बाघ ने कहा—'मैं बाघ हूँ, जंगल नहीं।' साँप ने कहा—'मैं साँप हूँ, जंगल नहीं।' आम बबूल, कटहल सब अपना-अपना परिचय देने लगे। अन्त में शिकारी डर कर बरगद पर चढ़ गये और उसकी फुनगी से कुछ कहा। बरगद शान्त हो गया। एक मौन में खो गया। आत्मलीन हो गया। उसके पत्ते स्थिर हो गये। पूरी आत्मसंस्थता में डूबा रहा थोड़ी देर को वह बरगद और फिर बोला—'छोड़ दो इन्हें। जाने दो। वह जंगल हम ही हैं। वह जंगल तुम ही हो—हाँ, वह तुम ही हो, तत् त्वम् असि, तत्वमसि।'

हमारी हालत इन्हीं पेड़ों की तरह है। ये पेड़-पौधे जीव-जन्तु मिलकर जंगल ही तो थे। किन्तु, अपनी पृथकता में हर पेड़ अपने को अलग मानता था, हर पशु अपने को अलग जानता था। मगर,

दरअसल वे जंगल ही थे, जिसे उनमें से कोई नहीं जानता था। जंगल की अलग से कोई सत्ता ही नहीं थी। जंगल उन्हीं में था। वे जंगल में ही थे। वे जंगल ही थे। हम भी अपने को नहीं पहचानते। हम अपनी पहचान ही खो बैठे हैं। आज की, सच पूछिये, तो सबसे बड़ी समस्या यही है कि मनुष्य अपनी पहचान, अपनी शिनाख्त खो बैठा है। वह है तो स्वयं परम प्रकाश, अनन्त चिन्मय आत्मा, अखण्ड आनन्दघन परमात्मा लेकिन, वह जंगल के अलग-अलग पेड़ या पशु की तरह अपने को हाड़-मांस का मात्र एक पुतला मान कर रह गया है। वह जो है उसे जानता नहीं, और जो नहीं है, उसे मान कर सुख के लिए, आनन्द के लिए, शान्ति के लिए, उपरामता के लिए, परम विश्रान्ति के लिए छटपटा रहा है, सिर धुन रहा है। कभी वह पहाड़ों पर जा रहा है, कभी समुद्री-तट पर, कभी मन्दिरों में, मस्जिदों में, गिरजों में और कभी तीर्थों को निकल पड़ता है। पहचान के संकट के कारण ही यह भ्रम है, भ्रमण है, भटकाव है।

महात्मा कबीर ने अपने को पहचाना था। अपने को जाना था। सारी समस्या अपने को जानने की है। जिसने अपने को जान लिया उसने सब जान लिया। फिर उसे कुछ और जानना शेष नहीं। उसे कुछ और जानने की जरूरत नहीं, दरकार नहीं। अपने को जान लेने पर महात्मा कबीर ने उद्घोष किया—

तेरा साईं तुज्झ में ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिरि-फिरि सूँघै घास ।।

तुम्हारा स्वामी, तुम्हारा देवता, तुम्हारा ईश्वर तुम्हीं में है। वह तुमसे अलग नहीं भिन्न नहीं, पृथक् नहीं। वह तुममे अभिन्न है, अपृथक् है, एकमेक है। जैसे सारी सुगंध, सारी खुशबू फूल में ही निहित है। सुगंध पुष्प से भिन्न नहीं, वह तो मात्र उसकी अन्तर्मधुता का उच्छ्वास है। सुगंध फूल की अन्तचेतना का, आत्मसत्ता का, आत्मतत्व का प्रकाश है वाह्य प्रसार है। इसीलिए फूल में आत्म-मुग्धता है, विश्रान्ति है। आपने कभी फूलों को, गुलाव को, गेंदे को, जुही, चमेली या मोगरे को देखा है? आप हँसेंगे। खिले फूलों को किसने नहीं देखा है? नहीं, हम बहुत कुछ देख कर भी नहीं देखते और नहीं देखकर बहुत कुछ देख लेते हैं। आप गौर से देखें। उनके निकट जायँ। ठहर जायँ थोड़ी देर, तब वे फूल अपना रहस्य, अपनी मुग्धता का राज आप से कहेंगे। कभी ये फूल, खिले हुए फूल मुझे बेचैन नहीं दिखे। खिले हैं, केवल खिले हैं अपनी डाल पर। शान्त हैं, मुग्ध हैं, मुस्कुरा रहे हैं, झूम रहे हैं, रस-गंध की वर्षा कर रहे हैं, लुटा रहे हैं अपने मूलाधार से निकल कर अपनी अमृत-गंध। मुझे ये फूल, ये खिले फूल सदैव आत्मानन्द में डूबे, किसी समाधि-मग्न परमहंस से लगे हैं। आप इनकी ओर देखें तो ठीक, न देखें तो भी ठीक। ये तो खिल गये हैं। अब इन्हें औरों की क्या चिन्ता?

जिसे अपनी पहचान हो गयी, वह खिल गया।
जो खिला है, उसे अपनी पहचान हो गयी है।
जो खिला है, वह अपने में मग्न है।
जो स्व में मग्न है, स्थित है; रस और गंध की

वहीं मे वर्षा होती है
जो खिल गया है, वह विश्रान्ति में है,
आनन्द में है, ईश्वर में है।

इसलिए मुझे हर खिला हुआ फूल अपनी चरमता, परमता को उपलब्ध किसी महात्मा की तरह लगता है। स्वयं ईश्वर की तरह लगता है। कालिदास ने हिमालय को शिव का अट्टहास कहा है। मैं खिले हुए फूलों को शिव की स्मिति, शिव की मंद-मधुर मुस्कान कहता हूँ। जिसे भी अपनी पहचान हुई है, शिव उसे अपने में उतरा हुआ लगा है। जिसे भी अपनी अभिज्ञता हुई है उसने अपने को शिव मे एकात्म जाना है। तेरा साईं तुज्झ में···।

सुगंध केवल फूलों की सम्पत्ति नहीं है। केवल फूलों की मल्कियत नहीं है सुगंध पर। सुगंध सब की सम्पत्ति है। सबकी मल्कियत है सुगंध पर। लेकिन जरूरत है उसे पहचानने की, परखने की। कबीर एक दूसरा उदाहरण देते हैं। कस्तूरी का मिरग ज्यों···। सुगंध, कस्तूरी की मनमादक, रस भीनी सुगंध, चित्तावर्जक, हियहारी सुगंध हिरण में ही है। खुशबू—मीठी खुशबू मृग में ही है। मगर काश! उसे इसकी अभिज्ञा होती, पहचान होती, जानकारी होती। एक सुगंध की जानकारी से गुलाब प्रशान्त हो गया, समाधि-मग्न हो गया और परम विश्रान्ति में प्रतिष्ठित हो गया और एक सुगंध की जानकारी नहीं रहने के कारण मृग भटक रहा है, वन-वन भटक रहा है, जंगल-जंगल चक्कर काट रहा है। मिट्टी सूँघता चलता है, घास की जड़ें सूँघता चलता है—बड़ा बेचैन है, विकल है। वह जानता ही नहीं—तेरा साईं तुज्झ में···।

हमारी विकलता का मूल कारण यही है कि जो हममें है, जो हम हैं, हमारा मूलस्वरूप है उसे हम जानते नहीं और अपनी अस्मिता, अपने अस्तित्व अपने 'स्व' का संधान, अपने तत्व की तलाश बाहर करने जाते हैं। और बार-बार, हजार बार दुनियाँ के चक्कर हम लगा डालें, मन्दिरों में सिर पटकते रहें, हमें अपने रूप की, अपने 'स्व' की पहचान नहीं हो सकती। तेरा साईं तुज्झ में···।

हमारा परमात्मा, हमारा ईश्वर हमसे अलग नहीं, हमीं में है। यह बात हमारे ऋषियों ने बार-बार कही है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।' एकमात्र ब्रह्म ही सच है, संसार मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म अलग नहीं, अभिन्न हैं। यह बात हममें से हर किसी ने सुनी है। कितनी ही बार सुनी है। हाँ, सुनी है। लेकिन सुनने की नहीं, यह समझने की बात है। यह सूचना पाने की नहीं, जानने की बात है।

हमारे पूर्वजों ने इस सत्य को जाना था। इस भेद का प्रत्यक्षीकरण किया था और तब उन्होंने मंदिर बनवाये। वे ज्ञानी थे। जानते थे कि भाषाएँ बदलती हैं, बदलती रहेंगी। फिर सभी मनुष्य कभी एक भाषा नहीं जान पायेंगे। इसलिए उन्होंने अपनी अनुभूति को, सत्योपलब्धि को स्थापत्य के शिल्प में ढाल दिया। वैदिक युग से अबतक कितनी भाषाएँ बदलीं, मगर मंदिर नहीं बदले, मस्जिदें नहीं बदलीं। ये मंदिर हमारी देह के प्रतीक हैं। देह ही देवालय है, शरीर ही हमारा शिवालय है। शिवालय के भीतर जायें तो शिव का दर्शन हो, भगवान का दर्शन हो। यानी जैसे मन्दिर में भगवान् की प्रतिमा अधिष्ठित

है उसी प्रकार शिव तुम्हारे शरीर के शिवालय में ही प्रतिष्ठित हैं, तुम्हारी देह के देवालय में ही तुम्हारे देवता का, ईश्वर का अधिवास है। भीतर झांको, गहरे उतरो, मन की वृत्तियों को तोड़ो और पाओगे कि ईश्वर तुम्हारे भीतर हैं, ईश्वर तुम ही हो। इसीसे कहा गया है – यत्र यत्र जीवः तत्र तत्र शिवः। हर व्यक्ति शिव है, हर नारी भगवती उमा है।

आपने मंदिरों मस्जिदों, गिरजा घरों और गुरुद्वारों को देखा है? आपने ख्याल किया है कि क्यों हमारे घर की तरह ये चौकोर नहीं होते? क्यों ये अपने शिखर में पतले होते जाते हैं या गुम्बददार होते हैं? हर मंदिर हमारी देह को आकृति का होता है, हर मस्जिद या चर्च हमारे शरीर की अनुकृति में खडा किया गया होता है। इसलिए उसका शिखर हमारे शिर की भाँति होता है जिसमें अनन्त ऊर्जा की तरंगें उठती हैं। ये मंदिर हमें रोकते हैं, ये मस्जिदें हमें इशारा करती हैं, ये चर्च हमें संकेत देते हैं, ये गुरुद्वारे हमें ठहराते हैं। ये कहते हैं, बार-बार कहते हैं कि तुम्हीं मन्दिर हो, तुम्हीं मस्जिद हो, चर्च हो, गुरुद्वारे हो। कहाँ भटक रहे हो, ? अपने मन्दिर के भीतर जाओ, प्रार्थना करो। अपनी मस्जिद के अन्दर जाओ, अजान दो, नमाज पढ़ो, अपने चर्च के भीतर जाओ और वन्दना करो। तुम्हें मिलेगा। तुम्हें तुम्हारा ईश्वर मिलेगा। इसलिए सभी धर्मों के अपने-अपने मन्दिर हैं। धर्म यानी विश्वास। तुम अपने विश्वास के अनुसार ही ढूँढो, पुकारो और जानो। अगर ज्ञानी हो तो अपने स्वरूप की पहचान मिलेगी। कबीर ने इसीसे कहा—मो को कहां तू ढूँढै वन्दे, मैं तो तेरे पास में। ना मन्दिर में, ना मस्जिद में, ना कावा कैलास में।

लेकिन क्यों हमें अपने स्वरूप की पहचान नहीं हो पाती? श्रीकृष्ण ने बड़े मधुर ढंग से इस रहस्य को समझाया है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥ (गीता १८-६१)

हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में सदैव स्थित हैं किन्तु वे माया के कारण अपने शरीर रूपी यंत्र में आरूढ़ होकर भ्रमित हो रहे हैं।

माया ही है, जो हमें अपने भीतर अवस्थित अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं देखने देती। एक बीज को देखकर हम यह जान नहीं पाते कि इसमें कितना बड़ा वृक्ष छिपा हुआ है। छोटा सा बीज। किन्तु, मिट्टी में पड़कर जब वह अपनी बाह्य आकृति को, अहंकृति को गला देता है तब उसके भीतर से वह अंकुरित होता है जो वह है— विशाल वट वृक्ष। एक अंडे को देखकर क्या हम समझ पाते हैं कि जब इसकी परतें टूटेंगी तब इसके भीतर से हजार रंगों को अपने डैनों में सजाए कोई मयूर-शावक निकलेगा? बीज बीज है। अंडा-अंडा है। इनके ऊपर के छिलकों में कुछ नहीं है। इन्हें टूटने दें तब इसके भीतर छिपे इनके शुद्ध स्वरूप को हम जान पायेंगे।

अपने भीतर झांकने के लिए तोड़ना होगा अपने अहंकार को।
अपनी पहचान के लिए गलाना होगा अपने देहअध्यास को।

अपने ईश्वर को, अपने स्वरूप को जानने के लिए
हटाना होगा माया के रेशमी आवरण को।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे--"जबतक पानी गन्दा रहता है तबतक चन्द्र या सूर्य की परछाईं उसमें ठीक-ठीक दिखलायी नहीं पड़ती, उसी प्रकार माया अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' यह भाव जबतक दूर न हो जाय, तबतक आत्मा का ठीक-ठीक साक्षात्कार नहीं हो सकता। अन्यत्र वे कहते हैं—जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किये रहता है, परन्तु मामूली बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के परदे के कारण देख नहीं पाते।"

यह माया अहं से ही उपजती है, द्वन्द्व भाव से ही उपजती है। यह माया मन की सृष्टि ही है। वास्तविक इसकी कोई सत्ता है नहीं। मन के नियन्त्रण से, अहं टूटता है, द्वैत मिटता है, माया विनष्ट होती है। और माया रहित चित्त में ही ब्रह्म का प्रकाश होता है, ईश्वरानुभूति होती है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है--"साधारण जीवों की अवस्था उस नमक के पुतले के समान है, जो समुद्र को नापने गया था और स्वयं ही उसमें घुल गया। समझे न? तात्पर्य यह है कि तुम्हें इतना ही जानना होगा कि तुम वही नित्य ब्रह्म हो। तुम तो पहले से ही वह हो, केवल एक जड़ मन (जिसको शास्त्र ने माया कहा है) बीच में पड़कर तुम्हें इसको समझने नहीं देता। सूक्ष्म जड़रूप उपादानों द्वारा निर्मित मन नामक पदार्थ के प्रशमित होने पर आत्मा अपनी प्रभा से आप ही उद्भासित होती है। यह माया और मन मिथ्या है, इसका एक प्रमाण यह है कि मन स्वयं जड़ और अन्धकार स्वरूप है जो इसके पीछे विद्यमान आत्मा की प्रभा से चैतन्यवत् प्रतीत होता है। जब इसको समझ जाओगे तो एक अखण्ड चैतन्य में मन लय हो जायगा; तभी 'अयमात्मा ब्रह्म' की अनुभूति होगी।"

हमारी सारी चेष्टाएँ इसी बात के लिए हों कि हम अपनी देह और मन और माया की परतों को भेद कर उनके पीछे विराजमान शाश्वत ज्योतिर्मय, अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानें, पहचानें और अंत में अपने ईश्वरत्व की अभिज्ञा प्राप्त कर लें। क्योंकि तेरा साईं तुज्झ में...।

भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी महाराज इस अद्वैत के बोध में, अपने मूल स्वरूप की पहचान करने में, माया से मुक्त होकर अपनी देह के देवालय में चिर निवास करने वाले परमात्मा को जानने में, हमारी अंतर्दृष्टि के उन्मेष में हमारी सहायता करने की कृपा करें—यही हमारी उनसे आंतरिक प्रार्थना है।

जय श्रीरामकृष्ण !

गीता : श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में

—स्वामी शुद्धव्रतानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, सेवाश्रम, वाराणसी

"गीता पढ़ने से क्या होता है? दस बार 'गीता-गीता' कहने से जो होता है। 'गीता-गीता' कहते-कहते 'त्यागी' हो जाता है। संसार में कामिनी-कांचन की जिसकी आसक्ति का त्याग हो गया है, जो ईश्वर में सोलह आना भक्ति दे पाता है, वही गीता का मर्म समझता है। गीता पूरी पुस्तक पढ़ने की आवश्कता नहीं है। त्यागी-त्यागी' कह पाने से ही हो गया।"

"डाक्टर—'त्यागी' कहते जाने से ही एक य-संयुक्ताक्षर लगाना होगा।"

"मणि—वह य-संयुक्ताक्षर नहीं लगाने से भी होगा; नवद्वीप गोस्वामी ने ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) से कहा था। ठाकुर पानोहाटी में महोत्सव देखने गये थे। वहाँ नवद्वीप गोस्वामी को गीता की यह बात कही थी। तब गोस्वामी ने कहा, 'आ धातु में घञ् से 'ताग होता है; इसके बाद ईन् प्रत्यय लगाने से 'तागी' होता है, त्यागी और तागी का एक अर्थ है।' (कथामृत ३।२६।३।२६०)

"पूरी गीता नहीं पढ़ने से भी होता है। दस बार 'गीता-गीता' कहने से जो होता है वही गीता का सार है। अर्थात् त्यागी। (कथामृत ४।२१।५।२२२)

"गीता की यही शिक्षा है, 'हे जीव, सब त्याग कर भगवान की प्राप्ति के लिए चेष्टा करो। साधु ही हो, संसारी ही हो, मन से सारी आसक्तियों का त्याग करना होगा।"

"चैतन्यदेव जब दक्षिण में तीर्थ-भ्रमण करते थे—उन्होंने देखा कि एक आदमी गीता पढ़ रहा है। और एक आदमी थोड़ी दूर पर बैठ कर सुन रहा है और रो रहा है—रोते-रोते आँखें बहती जाती हैं।

चैतन्यदेव ने जिज्ञासा की, 'तुम यह सब समझ पाते हो?' उसने कहा, 'भगवन्, मैं इन सब श्लोकों को समझ नहीं पाता हूँ।

उन्होंने जिज्ञासा की, 'तब रोते क्यों हो?' भक्त ने कहा, "मैं देखता हूँ अर्जुन का रथ; और उसके आगे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन बात कर रहे हैं। यही देखकर मैं रो रहा हूँ।" (कथामृत ३।१।४।१२)

'गीता सभी शास्त्रों का सार है। संन्यासी के पास और कुछ नहीं रहता है, गीता की एक छोटी प्रति रहती है।"

गीता की असली शिक्षा है त्याग। क्या त्याग, भोग-वासना का त्याग। किसके लिए यह त्याग, —परमार्थ-लाभ के लिए, अमृतत्व-लाभ के लिए। त्याग की बात कहते ही हम लोग चौंक उठते हैं। हमलोगों को अच्छी तरह सोचकर देखना होगा कि हम किस वस्तु का लाभ करना चाहते हैं, और वह वस्तु कितनी मूल्यवान है। जो वस्तु जितनी मूल्यवान होती है उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। हम अमृतत्व-लाभ करना चाहते हैं सुख-दुःख, अच्छा-बुरा सारे बन्धनों से मुक्ति चाहते हैं किन्तु, उसे प्राप्त करने के लिए

उसी परिमाण का मूल्य देने को तैयार नहीं होते। अमूल्य सम्पत्ति चाहते हैं, किंतु मूल्य नहीं देंगे, यह तो नहीं होगा। हम जो अमूल्य सम्पदा पाना चाहते हैं—परमार्थ सम्पदा चाहते हैं उसकी तुलना में हमारे त्याग का मूल्य कितना है ?

सम्पूर्ण भाव से निःशेष होकर अपने जीवन को नहीं दे पाने से नहीं होगा। इस क्षुद्र जीवन का दान भी खूब ही अकिंचित्कर है। 'त्याग' का अर्थ निःस्व होना नहीं है, अक्षय धन से धनी होने का पथ ही त्याग है। त्याग का अर्थ संसार के भय से भागना नहीं है बल्कि समाज में विजयी होने का एकमात्र उपाय ही आत्मत्याग है। किन्तु वह त्याग फिर बिल्कुल स्वार्थबोध मात्र से ही विहीन होना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने कहा है—'विषय के ऊपर, कामिनी-कांचन के ऊपर प्रीति रहने से नहीं होता है। अगर विषय के ऊपर आसक्ति रहती है तब संन्यास ग्रहण करने से भी नहीं होता है।" संन्यास का अर्थ है सम्यक् रूप से नाश अर्थात् वासना का लेशमात्र नहीं रहेगा। इसीलिए श्री श्रीमाँ सारदा देवी कभी-कभी भक्तों को आशीर्वाद देती हुई कहती थीं—"निर्वासना तुम्हें उपलब्ध हो"

उपनिषद् कहती है, 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" त्याग के द्वारा कोई-कोई अमृतत्व-लाभ कर पाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इससे संतुष्ट नहीं होकर कहा है—'त्यागनैके अमृतत्वमानशुः"—'एकमात्र त्याग के द्वारा ही अमृतत्व को प्राप्त किया जा सकता है। अन्य उपायों से नहीं।' इससे मन में ऐसा होने लगता है कि ऐसा होने से तो एकमात्र संन्यासियों को ही अमृतत्व की प्राप्ति का अधिकार है। श्री श्रीरामकृष्ण ने कहा है "यह क्यों! देखना होगा कि असल त्याग कौन-सा है। असल त्याग हुआ मन का त्याग, अन्तर का त्याग। यह यदि कोई कर सके तभी प्रकृत त्याग हुआ।' यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा होने पर संन्यासियों का भी तो मन का त्याग होने से ही होगा, ऐसा होने से उन लोगों का फिर बाहरी त्याग क्यों आवश्यक है ? यहाँ यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि संन्यासी का जीवन होता है आदर्श स्वरूप; इसीसे उसका अन्तर-त्याग और बाह्य-त्याग दोनों प्रयोजनीय है। तब गृहस्थ के लिए यह विधान ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) क्यों नहीं देते हैं? कारण यह है कि वह जो आश्रम है (यथा, गृहस्थाश्रम) उस आश्रम में उसका यही आदर्श है। यही एकमात्र अनुसरण योग्य पथ है। यह बात भूलकर यदि हम सभी त्याग के आदर्श को बिना विचारे ग्रहण करने की चेष्टा करें तो उसका क्या परिणाम होगा, यह बौद्ध धर्म ने दिखा दिया है।

श्री श्रीरामकृष्ण ने जो 'विषय के ऊपर आसक्ति' की बात कही है—आसक्ति का अर्थ है 'मैं—मेरा' का भाव। भगवान पर आसक्ति छोड़कर अन्य जो कोई भी आसक्ति है वह ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता के मार्ग में बाधक है, उन्हें छोड़कर अन्य जो कोई भी कामना है वह ईश्वर के पथ में बाधक है। एक कामना करने से उससे सैंकड़ों कामनाओं का जन्म हो जाता है।

> ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
> सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजाते॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
> (गीता २।६२।६३)

विषय-चिन्ता करते-करते मनुष्य को आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति होने से कामना अर्थात् उसी विषय के भोग की तृष्णा जन्म लेती है। इस कामना में विघ्न या प्रतिरोध होने पर (प्रतिरोधक के प्रति) क्रोध का उदय होता है। क्रोध होने से मोह अर्थात् विपर्यय बुद्धि आती है,

मोह होने से (शास्त्र एवं आचार्यों के तत्वोपदेश के सम्बन्ध में) स्मृति का विलोप हो जाता है। स्मृतिभ्रंश होने से (सत्-असत् विचार) बुद्धि विनष्ट हो जाती है एवं बुद्धि-नाश होने से मनुष्य का पुरुषार्थ रह नहीं जाता है। इसीलिए गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। अर्थात् हे अर्जुन, तुम मेरे प्रति आसक्तिचित्त हो और मेरा आश्रय ग्रहण करो। आसक्तचित्त होने का अर्थ है प्रेम। बात यह है कि विषयासक्ति छोड़कर ईश्वर को प्रेम करना होगा। आश्रय ग्रहण करने का अर्थ है शरणागत होना। भगवान को प्रेम करके ही उनका आश्रय ग्रहण करना होगा। त्याग ही सब कुछ है, हमलोगों के धर्म का मूल मंत्र यही है। विषय-त्याग हमलोगों को संजीवित रखता है। विषय-सम्पदा परमार्थ नहीं दे पाती है। इस संसार में में सुख के साथ दुःख जुड़ा रहता है प्रकाश और अंधकार की तरह एक के पीछे एक लगा रहता है। विषयों में शाश्वत आनन्द नहीं है। इसी से तो श्रीरामकृष्ण आकर फिर वही प्राचीन शिक्षा दे गये—"सच्ची शान्ति त्याग में है।" उपनिषदों का सार है गीता और गीता का सार श्रीरामकृष्ण कथामृत (हिन्दी में श्रीरामकृष्ण वचनामृत) में पाया जाता है।

●

१४ मई, बुद्ध जयन्ती

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में बौद्ध धर्म

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

स्वामी विवेकानन्द ने बुद्ध तथा बौद्ध धर्म पर कम से कम सात व्याख्यान दिये थे, अपने पत्रों एवं लेखों में अनेक स्थानों पर उनका उल्लेख किया था। लेकिन उनमें से केवल २ लेख लगभग संपूर्ण रूप से हमें प्राप्त हैं।

स्वामी विवेकानन्द की बुद्ध तथा उनके सन्देश में यौवन के प्रारंभ से ही काफी रुचि थी। श्रीरामकृष्ण से भेंट होने के पहले ही उन्हें एक बार भगवान बुद्ध के दर्शन हुए थे, जिसका उनपर गहरा प्रभाव पड़ा था। श्रीरामकृष्ण की अन्तिम बीमारी के समय वे बौद्ध गया गये थे, वहां ध्यान किया था, तथा उन्हें गहरी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुई थीं। रामकृष्ण मिशन के प्रथम संन्यासी मठ, वराह नगर मठ में भी बुद्ध के संदेश पर प्रायः वार्तालाप हुआ करता था। अमेरिका में स्वामीजी प्रायः बुद्ध तथा बौद्ध धर्म पर प्रवचन दिया करते थे, क्योंकि उन्हें प्रतीत हुआ था कि बुद्ध के सन्देश के माध्यम से वे अपने वेदान्त के विशिष्ट सन्देश को श्रोताओं तक आसानी से पहुँचा सकते थे। शंकराचार्यादि अन्य आचार्यों ने बौद्ध धर्म का विरोध या खंडन किया था, लेकिन स्वामीजी को यह मान्यता थी की बौद्ध धर्म की उपलब्धि के हजार वर्षों को भारतीय संस्कृति का अंश न मानकर उसे नकार देना उचित नहीं है।

प्रत्येक धार्मिक आन्दोलन अपने काल की विशिष्ट परिस्थितियों में किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए जन्म लेता है, तथा उस आवश्यता की पूर्ति के बाद ह्रास को प्राप्त होता है। यह बात बौद्ध धर्म पर भी लागू होती है। "बौद्धकालीन भारत" नामक अपने प्रसिद्ध भाषण में स्वामीजी ने बुद्ध के जन्म के पूर्व के भारत को स्थिति का, ब्राह्मणों और पुरोहितों के वर्चस्व का, पशुओं की बलि आदि का विस्तार से वर्णन किया है। उसके बाद वे बुद्ध को महानता, उनकी कार्य प्रणाली, संघ, सम्राट अशोक का धर्मान्तरण तथा बौद्ध धर्म के एक महान राजनैतिक शक्ति के रूप में उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। स्वामीजी बौद्ध धर्म के विस्तार को प्रक्रिया से बहुत प्रभावित थे। वे कहते हैं कि बौद्ध धर्म पहला धर्म था जो साहस पूर्वक विश्वविजय के लिए अग्रसर हुआ। उसके द्वारा प्रचारित सत्यों और उसके सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी हम उसे एक महान आन्दोलन के रूप में पाते हैं। उसके उद्भव की कुछ शताब्दियों में ही बुद्ध के नग्न-पद, मुंडित-मस्तक मशनरी तत्कालीन सारे सभ्य विश्व में फैल गये। लेकिन उसके बाद पतन आरम्भ हुआ। स्वामीजी बताने का प्रयत्न करते हैं कि बुद्ध कोई व्यक्तिगत सम्मान नहीं चाहते थे, लेकिन मन्दिर और मूर्तियाँ बनने लगीं तथा संघ के साथ में सारे आडंबर बढ़ने लगे, उसके बाद ये मठ धनाढ्य हो गये। पतन का कारण यही है। संन्यास कुछ लोगों के लिए अच्छा है लेकिन जब उसका प्रचार इस प्रकार किया जाय कि सभी चिन्तनशील, बुद्धिमान स्त्री-पुरुष संसार त्याग कर संन्यासी हो जावें तो कुल, वंश; जाति को शृंखला बनाये रखने के लिए कौन बचेगा? केवल दुर्बल। सभी सबल और तेजस्वी मस्तिष्क संपन्न लोगों ने समाज का त्याग कर दिया, वे संन्यासी बन गये, और तब शक्तिहीनता के कारण समाज का स्वाभाविक रूप से ह्रास हो गया। लेकिन बौद्ध धर्म के पतन में वैदिक, ब्राह्मण प्रधान संस्कृति को भी क्षति हुई। समाज सुधार का वह गुण, सभी के प्रति वह अद्भुत करुणा और दया, बौद्ध धर्म ने जन-समाज को जो अपूर्व सांत्वना प्रदान की थी, तथा जिसने भारतीय समाज को इतना महान बनाया था कि एक यूनानी इतिहासकार को लिखना पड़ा कि उस समय कोई हिन्दू असत्य भाषण नहीं करता था, तथा कोई हिन्दू नारी अपवित्र नहीं थी –वह शक्ति चली गयी।

स्वामी विवेकानन्द को मान्यता थी कि बौद्ध धर्म ने परोक्षरूप से संसार के सभी धर्मों को परिष्कृत किया है, तथा ऐसी कोई संस्कृति नहीं है, जिसपर उसका प्रभाव किसी न किसी रूप में न पड़ा हो।

विश्वधर्म महासभा में हिन्दू धर्म पर अपने प्रवचन में स्वामीजी ने बताया कि हिन्दूधर्म और बौद्ध धर्म एक दूसरे के परिपूरक हैं, तथा एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। अत: स्वामीजी ने कहा "हमें ब्राह्मण के अद्भुत मस्तिष्क के साथ बुद्ध के हृदय का, उनकी उदारता और अपूर्व मानवता का संयोग करना चाहिए।" स्वामीजी का यह कथन उनके इस मौलिक संदेश के ही अनुरूप है कि संसार के सभी महान धर्म एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि परिपूरक हैं। प्रत्येक धर्म सार्वभौमिक सत्य के एक पक्ष विशेष को ग्रहण कर अपनी समग्रशक्ति उस सत्य [illegible]कट्य और विकास में लगा देता है।

बौद्ध धर्म ने सार्वभौमिक सत्य के किन पक्षों को चुनकर उनका विस्तार किया? स्वामीजी के अनुसार वे पक्ष थे; आत्मनिर्भरता, तर्कसंगतता, प्रेम व करुणा, और समता। ये कुछ ऐसे तत्व हैं, जो स्वामीजी के अनुसार आज के युग में प्रत्येक धर्म के लिए आवश्यक हैं। जब धर्म के प्रति लोगों की आस्था नष्ट हो रही है, जब विश्व दिन प्रतिदिन अत्यधिक पेचीदा हो रहा है, जहाँ

धर्म को युक्ति का विरोधी समझा जाता है तथा जहाँ कोई भी व्यक्ति दूसरे से अलग नहीं रह सकता तब बुद्ध के उपदेश और आवश्यक हो जाते हैं।

आत्मनिर्भरता का सन्देश बुद्ध के आनन्द को दिये गये अन्तिम उपदेश में स्पष्ट प्रकट होता है। स्वामीजी की भाषा में बुद्ध ने आनन्द से कहा, "ओ आनन्द, मैं प्रयाण कर रहा हूँ, मेरे लिए मत रोओ, मेरा विचार मत करो। व्यर्थ बन्धन और निर्भरता का पोषण मत करो। बुद्ध कोई व्यक्ति नहीं है, वह एक अनुभूति है। स्वयं अपनी मुक्ति का उपाय करो। स्वामीजी ने बताया कि बुद्ध ने ईश्वर की प्रचलित धारणाओं के पीछे निहित मन: स्थिति की निन्दा की। उससे लोग अन्धविश्वासी और दुर्बल होते हैं। बुद्ध सत्य को सत्य की तरह प्रकाशित करना चाहते थे। बिना समझौते के, उसे कोमल बनाये बिना। वे पुरोहितों के, बलवानों, राजाओं, अन्धविश्वास युक्त परम्पराओं के सामने झुकना नहीं चाहते थे। बुद्ध ने सभी पुरोहितवाद को दूर कर मानव को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार बुद्ध की युक्तिसंगतता, तर्क संगतता को सभी धर्म स्वीकार कर सकते हैं। बुद्ध की प्रशंसा करते हुए स्वामीजी कहते हैं—'उनके अद्‌भुत् मस्तिष्क को देखो। कोई भावुकता नहीं। उनका विराट् मस्तिष्क कभी अन्धविश्वासी नहीं था। कोई पुराना दस्तावेज पाया गया है, तुम्हारे मित्र चाहते हैं, इसलिए तुम्हें विश्वास करना चाहिए—यह बात ठीक नहीं है। लेकिन स्वयं सोचो, स्वयं सत्य को खोजो। व्यक्ति को मुक्त और आकाश की तरह विशाल होना चाहिए। मस्तिष्क एकदम साफ होना चाहिए, तभी उसमें सत्य प्रकाशित हो सकता है। इस महापुरुष के मस्तिष्क में किसी प्रकार का 'जाल' नहीं था। वे पूर्णरूप से स्वस्थ व सबल थे। उनमें प्रेरणा की शक्ति की। उन्होंने कहा, अपने पैरों पर खड़े होवो और शुभ के लिए शुभ करो। किसी दंड के भय से नहीं, कहीं स्वर्गादि में जाने के लिए नहीं। उद्देश्य है, शुभ करना। मैं शुभ करता हूँ, क्योंकि शुभ कार्य करना शुभ है।

सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा एक अन्य सार्वभौमिक तत्व है जिसे स्वामीजी ने महत्व दिया। स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर और आत्मा को अस्वीकार करने पर भी बौद्धधर्म का विस्तार हुआ यह उस अभूतपूर्व प्रेम के कारण हुआ, जो पहली बार एक विशाल हृदय से प्रवाहित हो मानवों के प्रति ही नहीं बल्कि संसार के सभी प्राणियों की सेवा में प्रवृत्त हुआ।

मानव ईश्वर को प्रेम कर रहा था, और अपने भाई मानव को भूल गया था। ईश्वर के लिए प्राण अर्पण करने वाला मानव अपने भाई मानव की ईश्वर के नाम पर हत्या कर सकता था। ईश्वर के यश के लिए ईश्वर की सन्तान मानव की बीच नदी भगवान के लिए हजारों को हत्या की जा रही थी। बुद्ध के समय, पहली वार वे दूसरे देवता -मानव की ओर मुड़े। मानव को प्रेम करो। पहली वार तीव्र मानव प्रेम की महान् तरंग भारत से प्रारंभ होकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम देश के वाद देश को प्लावित करती गयी। लेकिन एक बूँद भी रक्त नहीं बहाया गया। स्वामीजी कहते हैं कि महान आचार्य की महानता उनकी सभी के प्रति विशेष कर अज्ञानी और दरिद्रों के प्रति सहानुभूति में निहित है। बुद्ध के कुछ ब्राह्मण शिष्य उनके उपदेशों को संस्कृत में लिपिबद्ध करना चाहते थे, लेकिन बुद्ध से स्पष्ट रूप से कहा, 'मेरा सन्देश गरीबों के लिए, जनता के लिए है, मुझे लोगों को भाषा में वोलने दो।' अत: आज भी उनके उपदेशों का अधिकांश पाली में है।

और अन्त में समता, बुद्ध के उपदेशों का एक ऐसा तत्त्व है, जो स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आज के युग में सार्वभौमिक महत्व रखता है। स्वामीजी ने कहा कि बौद्ध धर्म ने जनता के बन्धनों को तोड़ डाला। सभी जातियाँ एक मिनट में समान हो गये। बुद्ध ने वेदों के सार का सभी को उपदेश दिया। उन्होंने कोई भेद नहीं किया क्योंकि सभी मानव की समानता उनका एक महान सन्देश था। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को आध्यात्मिकता की उपलब्धि का समान अधिकार है उन्होंने ब्राह्मणों, पुरोहितों और अन्य जातियों का भेद समाप्त कर दिया। निम्नतम व्यक्ति महानतम उपलब्धि कर सकता है।

तात्पर्य यह कि आत्मनिर्भरता, युक्तिसंगतता, प्रेम और करुणा तथा समता, बौद्ध धर्म के ऐसे तत्व हैं, जिन्हें कोई भी सच्चा धार्मिक व्यक्ति स्वीकार करने में नहीं हिचकिचायेगा। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो धर्म सभा में घोषणा की थी कि -"हम सर्वधर्म सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, हम सभी धर्मों को सत्य समझकर स्वीकार करते हैं।" यही नहीं उन्होंने सदा विभिन्न धर्मों की विवादास्पद बातों को गौण वनाकर ऐसे तत्त्वों पर बल देने का, उन्हें प्रकाशित करने का प्रयत्न किया, जिन्हें सभी स्वीकार कर सकें।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, "मेरा पाश्चात्य के लिए एक सन्देश है, जैसा बुद्ध का प्राच्य के लिए था। बुद्ध एक पशु के लिए जान देने को तैयार थे, तो स्वामी विवेकानन्द भी गरीब, पददलित, दु:खी लोगों की सेवा के लिए पुन: पुन: जन्म लेने के लिए तत्पर थे, जिन्हें वे अपना एक मात्र आराध्य देव मानते थे। पाश्चात्य में लोग स्वामीजी के चेहरे की बुद्ध के चेहरे से समानता देखकर अचम्भित हो जाते थे। लेकिन यह समानता केवल चेहरे मात्र की नहीं थी। स्वामीजी में बुद्ध का त्याग, उदारता, असीम करुणा और सहानुभूति, सत्य का निर्भीक अनुसन्धान और पूर्ण स्वाधीनता घनीभूत हो गये थे। स्वामीजी को बुद्ध में अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता था। जब स्वामीजी ने कहा था, बुद्ध मेरे इष्ट हैं, मेरे भगवान हैं।" तब संभवत: वह इसी बात की ओर इंगित कर रहे थे।

★

प्रत्येक पुरुष, और प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वररूप में देखो। इतनी अधिक तपस्या के उपरान्त मैंने इस यथार्थ सत्य को समझा है -ईश्वर प्रत्येक जीव में है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। "जो जीव की सेवा करता है, वह वस्तुत: ईश्वर की सेवा करता है।" यदि तुम अपने भाइयों-प्रकट ईश्वर—की आराधना नहीं कर सकते, तब फिर तुम अव्यक्त ईश्वर की कैसे उपासना कर सकते हो ? ईश्वर की पूजा के लिए तुम एक मन्दिर का निर्माण कर सकते हो, और वह अच्छा भी हो सकता है, किन्तु एक उत्तम, एक अत्युच्च मन्दिर पहले से ही स्थित है और वह है—मानव शरीर।

—स्वामी विवेकानन्द

बुद्ध और विवेकानन्द

—स्वामी निखिलेश्वरानन्द
—रामकृष्ण आश्रम, राजकोट।

ध्यानस्थ स्वामी विवेकानन्द के प्रसिद्ध चित्र को देखकर पहली बात जो किसी को प्रभावित करती है वह है ध्यानस्थ बुद्ध की मूर्त्ति से इसका निकट सादृश्य। विवेकानन्द और बुद्ध के इस सादृश्य से अमेरिका, जापान तथा इंगलैण्ड के लोग बड़े प्रभावित हुए थे। संसार के इतिहास में ये दोनों अमर ध्यानस्थ मुख-मुद्रायें अद्वितीय हैं।

अमेरिका जाने के पहले, आबू रोड स्टेशन पर संयोगवश स्वामी विवेकानन्द की भेंट अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द से हुई थी। बाद में स्वामी तुरीयानन्द ने इस भेंट के विषय में कहा था—"उस समय स्वामीजी के द्वारा कही गयी कुछ बातें मुझे स्पष्टतः याद हैं…उन्होंने कहा था, "हरिभाई तुम्हारे तथाकथित धर्म के बारे में मैं आज भी कुछ समझने में असमर्थ हूँ…किन्तु मेरे हृदय का बहुत विस्तार हुआ है और मैंने अनुभव करना सीखा है; मेरा विश्वास करो, मेरी अनुभूति गहन हो गयी है।" उनका स्वर भावारूढ़ था; वे आगे कुछ न कह सके · क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि स्वामीजी का इस प्रकार सुनकर मेरे मन में क्या हुआ? मैंने सोचा "क्या ये शब्द और ये अनुभूतियाँ स्वयं बुद्ध के नहीं हैं?"[1] स्वामी तुरीयानन्दजी ने आगे कहा, "और मुझे स्मरण आया कि बहुत दिनों पूर्व जब बोधि वृक्ष के नीचे ध्यान के लिए वे बोध गया गये थे तो उन्हें महात्मा बुद्ध के दर्शन हुए थे, जो उनके शरीर में प्रविष्ट हो गये थे…मैं स्पष्ट देख सका कि उनके स्पन्दित हृदय में मानव जाति का सम्पूर्ण दुःख प्रविष्ट हो गया था।"[2]

वस्तुतः जब हम इन दो महान आत्माओं के जीवन चरित और उपदेशों की तुलना करते हैं, तो हम यह सोचने को विवश हो जाते हैं: पच्चीस सौ वर्षों के कालान्तराल से पृथ्वी पर प्रकट होने वाली ये दोनों आत्मायें एक ही नहीं थीं?"

स्वामीजी के जीवन की बहुत सी घटनायें प्रमाणित करती हैं कि यह सादृश्य मात्र एक भौतिक संयोग नहीं है। एक क्षत्रिय के रूप में उत्पन्न बुद्ध वीरता के साँचे में ढले, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विराट विग्रह थे और ऐसे ही थे स्वामी विवेकानन्द। बुद्ध बचपन में भी ध्यानस्थ हो जाया करते थे और ऐसा ही स्वामीजी भी करते थे। बचपन की ध्यानावस्था में उन्हें बुद्ध के दर्शन हुए थे। सिद्धार्थ शैशव से ही इतने सदय थे कि देवदत्त के बाणों से बिद्ध एक पक्षी की उन्होंने प्राण-रक्षा की थी; 'बिले', जिस नाम से स्वामीजी को बचपन में पुकारा जाता था—को भी घर की चीजें गुजरते हुए भिखमंगों को बाँट देने से रोकने के लिए, घर में बन्द करना पड़ता था। जब बुद्ध का जन्म हुआ तो उनके विषय में भविष्यवाणी की गयी:

> "वह मानवों को अज्ञान से मुक्त करेगा
> या यदि वह शासन करना चाहेगा।
> संसार पर शासन करेगा।[3]

किन्तु उन्हें राजा बनाने के उनके पिता के सारे प्रयत्न निष्फल हुए। युवा नरेन्द्रनाथ, भावी स्वामी विवेकानन्द भी हर रात सोते समय जीवन के दो नितान्त भिन्न रूपों के दर्शन किया करते थे। एक था अत्यंत सफल सांसारिक जीवन और दूसरा एक महान संन्यासी का और वह दोनों ही उपलब्धियों के लिए अपने को समर्थ पाते थे। क्रमशः इस द्वन्द्वात्मक रूप का समाधान हो गया और उन्होंने संन्यास का जीवन ग्रहण करने का संकल्प कर लिया। उनके विवाह के लिए उनके पिता के सारे प्रयत्न व्यर्थ गये।

ईश्वरीय न्याय तथा दया के सहअस्तित्व और आनन्द धन परमात्मा की इस सृष्टि में दुःख की उपस्थिति के विषय में स्वामीजी अत्यन्त शंकाकुल रहे विशेषत: पिता की मृत्यु के उपरांत दुःख के संपर्क में आने पर। रोग, जरा और मरण के रूप में मानव के दुःखों से ऐसी ही अनुभूति बुद्ध को भी हुई थी। "लाईट ऑफ एशिया" के शब्दों में सिद्धार्थ ने उद्गार व्यक्त किये :—

> "ऐसा कैसे हो सकता है कि ब्रह्म बनाये
> सृष्टि और रखे उसे दुःखी क्योंकि यदि
> सर्वशक्तिमान ऐसे इसे त्याग दे तो वह
> मंगलमय नहीं और अगर वह शक्तिमान
> नहीं तो परमात्मा नहीं? 'छन्ना' मुझे
> घर ले चलो। अब इतना काफी है।
> मेरी आँखों ने काफी देख लिया है।"[4]

यह व्यक्तिगत मोक्ष की इच्छा नहीं, मनुष्य मात्र का दुःख था जो बुद्ध के हृदय में स्पन्दित हुआ था। इसीने उनसे सर्वस्व का त्याग करवाया और सत्य के संधान हेतु न कि व्यक्तिगत मोक्ष की इच्छा के लिए घर छोड़ने को विवश किया।

'लाईट ऑफ एशिया' नामक प्रसिद्ध काव्य से एक और उद्धरण :

> "चूँकि मैं अपने परिवेश से प्रेम करता हूँ, चूँकि मेरा हृदय उन सभी ज्ञात या अज्ञात व्यक्ति हृदयों की हर धड़कन में धड़कता है, ये जो मेरे हैं और ये जो मेरे होंगे, सहस्र लक्षाधिक मुक्त मेरी बलि से जो मैं अब देता हूँ, हे आहुत करनेवाले नक्षत्रों! हे शोकाकुल पृथ्वी! तुम्हारे लिए और अपनों के लिए त्याग दिया मैंने अपना यौवन, अपना सिंहासन, अपने सुख, अपने सुनहले दिन, अपनी रातें।"[5]

मानव जाति को उसके अन्तर्निहित देवत्व की अनुभूति में सहायता करने की इसी आकांक्षा ने अपनी माता और भाइयों के कष्टों की कीमत पर भी स्वामीजी को अपना सर्वस्व और संसार त्यागने को प्रेरित किया। जूनागढ़ के दीवान श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को दिनांक २९ जनवरी, १८९४ के एक पत्र में उन्होंने लिखा —

"इसीलिए तो एक ओर तो था भारत एवं सारे संसार के धर्मों के विषय में मेरे कल्पित स्वप्न और उन लाखों नर-नारियों के प्रति मेरा प्रेम, जो युगों से डूबते जा रहे हैं, और कोई उनकी सहायता करनेवाला नहीं है—यही नहीं, उनकी ओर तो कोई ध्यान भी नहीं देता है—और दूसरी ओर था मेरे निकटस्थ और प्रिय जनों को दुःखी करना। मैंने पहला पक्ष चुना।"[6]

बोधगया के बोधि वृक्ष के नीचे सत्य संधान हेतु बुद्ध दृढ़प्रतिज्ञ होकर ध्यान के लिए बैठे :

> "इहासने शुष्यतु में शरीरम्
> त्वगस्थि मांसं प्रलयं च यातु।
> अप्राप्य बोधि बहुकल्प दुर्लभां
> नेहासनात्कायमतः चलिष्येत।।"

अर्थात् इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाय; त्वचा, अस्थि और मांस नष्ट हो जायँ, लेकिन बहुकल्प दुर्लभ बोधि को प्राप्त किये बिना इस आसन से मैं विचलित नहीं होऊँगा।

और ज्ञान प्रकाश अवतरित हुआ। इस बोध गया की ओर ही नरेन का मन भी आकृष्ट हुआ और उन्होंने अपने गुरुभाइयों के साथ उस स्थान के लिए जहाँ श्रीरामकृष्ण काशीपुर (१८८२ अप्रैल का प्रारंभ) में निवास कर रहे थे, प्रस्थान किया। 'लाईफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' के अनुसार, "उस समय बौद्ध वाङ्मय का उन्होंने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उस समय तक तो वे तत्त्वतः बौद्ध हो गये थे; बुद्ध की प्रकृष्ट मेधा, उनकी धारणाओं का गरिमामय संतुलन, सत्यान्वेषण का अचल संकल्प, उनका प्रज्वलित वैराग्य, उनका दयार्द्र हृदय, उनका मधुर, गंभीर और सर्वमान्य व्यक्तित्व, उनकी उच्च नैतिकता और वह व्यवहार जिसके द्वारा उन्होंने आध्यात्म और मानव आचरण के बीच सामंजस्य उत्पन्न किया— ये सब अन्य शिष्यों में भी प्रसरित हो गये। वे सभी जीवन की बलि चढ़ाकर भी सत्य की प्राप्ति के लिए बुद्ध की तरह कृतसंकल्प थे।"[7] अपने ध्यानकक्ष की दीवारों पर उन्होंने बुद्ध के इसदृढ़संकल्प को बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया था। बोध गया पहुँचकर वे उसी शिलाखंड पर ध्यान के लिए पवित्र बोधि वृक्ष के नीचे बैठे जहाँ बुद्ध ने ध्यान-साधना की थी और बुद्धत्व प्राप्त किया था। ध्यान की चरमावस्था—निर्विकल्प समाधि—इसी अवधि में नरेन को काशीपुर में प्राप्त हुई। संयोग से मृत्यु के पहले अपने ३९वें जन्मदिवस पर उनकी भी अंतिम यात्रा बोध गया ही हुई। फिर, यहीं एक मठ को देखकर माँ शारदा अपनी संन्यासी संततियों के हेतु प्रार्थना के लिए प्रेरित हुई थीं जिसने रामकृष्ण संघ को जन्म दिया था। वस्तुतः स्वामीजी के जीवन की प्रथम और अन्तिम मुख्य तीर्थयात्रा बोधगया ही हुई।

ज्ञानार्जन के उपरान्त बुद्ध ने सर्वप्रथम बनारस के सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया था। स्वामीजी ने भी बनारस में ही अपना प्रथम प्रसिद्ध वक्तव्य दिया : "मैं जा रहा हूँ, किन्तु जबतक मैं शक्ति विस्फोट से समाज को आकुल कर एक कुत्ते की भाँति अनुसरण करने को बाध्य न कर दूँ, मैं नहीं आऊँगा।"[8] और यह बनारस ही था जहाँ उन्होंने अपने शिष्यों को रोगी नर-नारियों के उपचार और क्षुधा से पीड़ित जीवित शिव की सेवा के लिए अस्पताल खोलने की प्रेरणा दी थी।

ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध ने सम्यक् आचरण द्वारा संपूर्ण इच्छाओं की समाप्ति अर्थात् निर्वाण संदेश प्रसारित करते हुए देश का दूर-दूर तक परिभ्रमण किया। एक परिव्राजक के रूप में स्वामीजी ने भी समस्त जीवात्माओं के देवत्व और धर्मों के समन्वय के संदेश के प्रचार के लिए सारे देश की, यहाँ तक कि अखिल भूमण्डल में सुदूर पश्चिमी देशों तक की यात्रा की। उन्होंने स्वयं कहा था, "जैसे बुद्ध के पास पूर्व के लिए एक संदेश था, पश्चिम के लिए मेरे पास एक संदेश है। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' अर्थात् बहुतों के कल्याण और बहुतों के सुख वाले आदर्श के आधार पर बुद्ध ने संन्यासियों का एक संघ स्थापित किया था। 'आत्मनोमोक्षार्थम् जगद्धिताय च' अर्थात् 'अपनी मुक्ति और विश्व के हित के लिए' वाले आदर्श पर स्वामीजी ने भी अपने गुरु के नाम पर संन्यासियों का संघ प्रतिष्ठित किया। अपने शिष्यों से स्वामीजी कहा करते थे—"बुद्ध एक व्यक्ति नहीं थे बल्कि एक अनुभूति थे। तुम इसी अनुभूति में प्रतिष्ठित हो जाओ! लो यह

कुंजी !' भगिनी निवेदिता की दीक्षा के समय उन्होंने उनसे शिव की अर्चना कर और तब बुद्ध की आराधना उनके चरणों में पुष्पार्पण कर करने को कहा। निवेदिता ने लिखा—एक व्यक्ति के रूप में प्रत्येक जीवात्मा, जो उनसे मार्ग दर्शन के लिए आती उन्हें सम्बोधित कर उन्होंने कहा—"जाओ और उसका अनुसरण करो जिसने बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व पाँच सौ बार जन्म लेकर दूसरे प्राणियों के लिए अपना जीवन समर्पित किया।"[10]

पूरी मानवता ही क्यों, पशुजगत को भी बुद्ध ने आत्मीय बनाया। नर्तकी अम्रपाली, वह चांडाल जिससे उन्होंने अपना अन्तिम भोजन स्वीकार किया और यहाँ तक कि एक नाई ने भी उनसे 'निर्वाण' का आशीर्वाद प्राप्त किया। राजगृह में वे एक बकरी के प्राण बचाने हेतु अपने प्राणों को वलि देने को भी उद्यत् हो गये। स्वामीजी का हृदय पतितों और दलितों के लिए भी दयार्द्र हो उठता था। नाचनवाली वह लड़की, खेतड़ी का वह चमार और अलमोड़ा का वह मुसलमान फकीर सबने उनका आदर और आशीर्वाद पाया। उनके मर्माहत हृदय से ये करुण शब्द निकले थे : जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है उसे मैं महात्मा कहता हूँ अन्यथा वह दुरात्मा है।"[11] मैं बार-बार जन्म लूँ और हजारों दुःख झेलूँ जिससे मैं उस एक मात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ—उस एकमात्र ईश्वर की जिसमें मैं विश्वास करता हूँ, सभी आत्माओं का वह पूर्ण योग और सबके ऊपर, मेरा ईश्वर जो दुराचारी है मेरा ईश्वर जो दुःखी है, मेरा ईश्वर जो दीन हैं, जो सभी जातियों, सभी प्राणियों में स्थित है—मेरी पूजा का विशिष्ट लक्ष्य है।'[12] उन्होंने कहा था—"मेरे देश का एक कुत्ता भी जबतक भूखा रहता है उसे खिलाना और उसकी देखभाल करना मेरा धर्म है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है या तो धर्मेतर है या झूठा धर्म।"[13]

भगिनी निवेदिता ने अपने गुरु को कहते हुए सुना था : मेरा वश चले तो मैं अपराध करूँ और परिणामतः सदा के लिए नरक में चला जाऊँ यदि उसके द्वारा सचमुच मैं किसी मनुष्य की सहायता कर सकूँ।" उन्होंने आगे लिखा—"बोधिसत्व की कथा जिसने निर्वाण से तबतक अपने को रोक रखा जबतक इस विश्व का अन्तिम धूलकण भी उसके पूर्व मुक्ति न प्राप्त कर ले—जब हममें से कुछ के सामने वे बार-बार दुहराते थे तो उसके पीछे उनकी यही अन्तर्प्रेरणा थी मानो उसका आधुनिक युग के लिए विशेष प्रभाव हो।"[14]

व्रजध्वज के सूत्र के अनुसार—किसी बोधिसत्व के संकल्प ये हैं : "निश्चय ही यह अधिक अच्छा है कि मैं अकेले दुःख झेलूँ अपेक्षाकृत इसके कि सारे प्राणी दुःख की अवस्था को प्राप्त हों। मुझे अपने आपको गिरवी रख देना होगा जिससे यह सारा संसार नरक के भय, पाशविकता के भय, यमलोक के भय से मुक्त हो जाय और अपने इस शरीर से सभी प्राणियों के हित के लिए संपूर्ण दुःखों के बोझ का अनुभव करूँ। सारे प्राणियों की तरफ से सबों के लिए मैं जमानत देता हूँ… और क्यों ? सभी प्राणियों के हितार्थ अर्थात् संपूर्ण विश्व की मुक्ति के उद्देश्य से संपूर्ण ज्ञानार्जन का यह संकल्प मेरे भीतर उदित हुआ है।"[15] इस प्रकार बुद्ध ने विश्वजनीन करुणा का उपदेश किया जो वेदान्त के अनुसार सभी भूतात्माओं के तात्विक एकत्व की धारणा पर आधारित है। उनके अनुसार सच्चे अर्थ में दूसरों के प्रेम के कारण स्वयं के निर्वाण का परित्याग अपने को निर्वाण में ही प्रतिष्ठित करना है।

कई अवसरों पर बुद्ध की तरह इस सार्वभौम मुक्ति की धारणा स्वामीजी ने व्यक्त की अपने

शिष्य श्री शरत् चक्रवर्ती को उन्होंने कहा था, "माना कि अद्वैत ज्ञान के द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करके यदि तू मुक्त हो गया तो इससे दुनिया को क्या लाभ होगा ? त्रिजगत को मुक्त करना होगा। तभी तुम अनन्त सत्य में अवस्थित हो सकते हो।"[16] उन्होंने फिर कहा था --"क्या तुम सोचते हो, जबतक एक भी जीव बन्धन में पड़ा है तुम्हें कोई मुक्ति मिलेगी ? जबतक वह मुक्त नहीं होता तुम्हें उसकी सहायता के लिए, उसे ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिए कई जन्म लेना पड़ेगा।"[17] श्री गिरीश घोष से उन्होंने कहा था—"आप जानते हैं गिरीश बाबू, मन में ऐसे भाव उदय होते हैं कि यदि जगत् के दुःख दूर करने के लिए मुझे सहस्रों बार जन्म लेना पड़े तो भी मैं तैयार हूँ। इससे यदि किसी का तनिक भी दुःख दूर हो तो वह मैं करूंगा। और ऐसा भी मन में आता है कि केवल अपनी ही मुक्ति से क्या लाभ, सबको साथ लेकर उस मार्ग पर जाना होगा।"[18] यह बुद्ध का स्वर था।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के जीवन और संदेश बुद्ध के संदेश ही प्रतिध्वनित करते हैं और दो हजार पाँच सौ वर्ष पहले दिये गये उस स्वर को एक नयी विश्वसनीयता प्रदान करते हैं।

तो भी स्वामीजी स्वयं नहीं चाहते थे कि कोई उनकी तुलना बुद्ध से करे। एक बार उन्होंने कहा था—"हम सबों को स्वीकार करना चाहिए कि हममें अभी भी वासनाएं हैं! कोई भी किसी को तुलना उनसे (बुद्ध) कभी भी करने का साहस न करे। जब किसी ने उनसे पूछा कि क्या वे बौद्ध हैं, तो बुद्ध के प्रति उनकी श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त हुई थी : "मैं बुद्ध के सेवकों के सेवकों का सेवक हूँ।"[20] वे कहा करते थे, 'बुद्ध ! बुद्ध ! निस्संदेह इस पृथ्वी पर वह महानतम् पुरुष थे।'[21] पुनः "इस संसार में सचमुच वह अकेले मनुष्य थे जो सदा संयत, संतुलित, एकमात्र संतुलित व्यक्ति उत्पन्न हुए।"[22] बुद्ध की ऐतिहासिक प्रमाणिकता भी शायद एक कारण थी जिससे स्वामीजी उनके प्रति श्रद्धापूरित थे। किन्तु, भगिनी निवेदिता के अनुसार—बुद्ध के व्यक्तित्व की न केवल यह ऐतिहासिक प्रमाणिकता थी जिसने उन्हें मुग्ध किया। उतना ही सशक्त दूसरा कारण था, उनके अपने गुरु का उनकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष जीवन जो ढाई हजार वर्ष पूर्व की उस कथा से बिल्कुल मिलता था। बुद्ध में उन्होंने श्रीरामकृष्ण परमहंस को देखा; रामकृष्ण में उन्होंने बुद्ध को देखा। एक दिन यह विचार विधुल्लेखा की तरह कौंध गयी जब बुद्ध की मृत्यु के दृश्य का वह वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा कि कैसे पेड़ के नीचे उनके लिये कम्बल बिछाया गया था और कैसे उस पर तथागत् लेटे हुए थे, 'एक सिंह की तरह', दायीं करवट, मरण की प्रतीक्षा में कि एकाएक एक व्यक्ति उपदेश के लिए दौड़ता हुआ उनके पास आया। उनके शिष्यों ने अपने गुरु की मरण-शय्या के पास किसी भी कीमत पर शान्ति बनाये रखने के लिए उसे अनधिकारी मानकर दुर्व्यवहार किया होता—किन्तु तथागत ने सुन लिया और नहीं, नहीं वह जो तदर्थ भेजा गया सदैव तत्पर है।" यह कहते हुए उन्होंने केहुनी के बल अपने को उठाया और उपदेश किया। यह चार बार घटित हुआ और केवल तभी मृत्यु के लिए बुद्ध ने अपने को प्रस्तुत किया...। यह अमर कथा अपनी परिणति को प्राप्त हुई किन्तु जिसने सुना उसके लिए सबसे अर्थपूर्ण क्षण वह था जिसमें यह कथा कहनेवाला अपने ही शब्दों "केहुनी के बल अपने को उठाया और उपदेश किया" पर रुक गया था और संक्षिप्त विषयान्तर से बोला था, "जानते हो रामकृष्ण परमहंस में मैंने यह देखा।" और मन के समक्ष उस व्यक्ति की कथा उभरी

जिसकी निर्यात उस गुरु से शिक्षा ग्रहण करने को जो सौ मील की यात्रा पूरी कर काशीपुर तब पहुँचा था मात्र जब वे मृत्यु शैय्या पर पड़े थे।"[23]

यहाँ हमें स्वामीजी के दयार्द्र हृदय की याद आती है—कैसे उन्होंने अपने अन्तिम दिन मृत्युपर्यन्त कार्य करते हुए व्यतीत किये। अपने महाप्रयाण के कुछ ही दिन पूर्व स्वामीजी अपने शिष्य श्री शरत् चक्रवर्ती से बातचीत कर रहे थे कि स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज ने गंभीर बातों से स्वामीजी को क्लांत करने के लिए उन्हें (शरत्चन्द्र) डाँटा जबकि वे अस्वस्थ थे। तब स्वामीजी ने अपने गुरुभाई से कहा, "तुम्हारी चिकित्सा संबंधी हिदायतों और बेकार सारी बातों की परवाह कौन करता है। वे मेरे बच्चे हैं यदि उन्हें शिक्षा देने में मेरा शरीर नष्ट भी हो जाय तो उसकी परवाह तनिक भी नहीं!-[4] ४ जुलाई, १६०२ अपनी महासमाधि के इस दिन भी तीन घंटे तक उन्होंने ब्रह्मचारियों के लिए संस्कृत व्याकरण की कक्षा ली स्वामी प्रेमानन्दजी के साथ वैदिक स्कूलों इत्यादि की स्थापना के विषय में विचार-विमर्श करते हुए काफी दूर तक घूमे।

वस्तुतः स्वामीजी श्रीरामकृष्ण और बुद्ध के साथ एकाकार हो गये थे, बल्कि पूरे विश्व से। श्रीरामकृष्ण के अन्यतम शिष्य श्रद्धेय स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज के द्वारा कही गयी निम्नलिखित घटना प्रमाणित करती है कि कैसे बुद्ध की तरह स्वामीजी का करुणामय हृदय संपूर्ण विश्व के साथ इतना एकाकार हो गया था कि पृथ्वी पर कहीं भी दुःख की प्रत्येक तरंग उनके हृदय में प्रतिध्वनित हो जाती थी।

करीब एक बजे रात को बेलुड़मठ के अपने कमरे से निकलकर बरामदे में यहाँ से वहाँ स्वामीजी चहलकदमी कर रहे थे कि विज्ञानानंदजी महाराज ने उन्हें देख लिया। वे स्वामीजी के पास गये और पूछा कि क्या उन्हें नींद नहीं आ रही है? स्वामीजी ने उत्तर में कहा "देखो पेसन, मैं गाढ़ी नींद में सोया हुआ था किन्तु एकाएक मुझे आघात सा लगा, मैंने सोचा कि किसी ने मुझे धक्का मारा है और मैं जग गया"। कहीं पर कोई दुर्घटना जरूर हुई होगी जिसकी परिणति मानवीय दुःख में हुई होगी और इसी ने मुझे जगा दिया।" इस अस्वाभाविक बात को स्वीकार करना कठिन जानकर विज्ञानानन्दजी महाराज सुनकर मन ही मन हँसे। किन्तु दूसरी ही सुबह उन्होंने सामाचार पत्र में पाया कि फिजी के निकट कहीं ज्वालामुखी फटने के कारण भूकम्प हुआ था जिसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर मनुष्यों को दुःख पहुँचा था। विज्ञानानन्दजी महाराज ने कहा था कि कलकत्ता से पाँच हजार मील दूर की उस दुर्घटना ने स्वामीजी की निद्रा कैसे भंग कर दी थी। इससे यह जान पड़ता है कि उनका स्नायुतंत्र किसी सेसमोग्राफ से भी अधिक संवेदनशील जान पड़ता था! जो उन्हें निकट से जानते थे उनके लिए वे बुद्ध की प्रतिमूर्त्ति थे, जो आधुनिक युग के लिए पुनः अवतीर्ण हुए थे।

★

शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है—अपने को शान्त रखना और स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना। —स्वामी विवेकानन्द

बुद्ध का प्रथम धर्मोपदेश

—डा० ओमप्रकाश पाण्डेय

बुद्ध न केवल इस देश, बल्कि विश्व की महान विभूति थे, जिन्होंने बोध गया में बुद्धत्व की प्राप्ति के बाद अपने ज्ञान और दर्शन को भारतीय ज्ञान और दर्शन की कसौटी पर कसने के लिए वाराणसी के निकट सारनाथ को केन्द्र बनाया इसीलिए मृगदाव को (सारनाथ) केन्द्र बनाकर बुद्ध ने यहाँ पर प्रथम धर्मोपदेश (धर्मचक्रप्रवर्त्तन) दिया। फलस्वरूप इससे सारनाथ का धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व बढ़ा।

बुद्ध छठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग लुम्बिनी के मनोरम शालवन में बैशाख पूर्णिमा को शाक्य गणतंत्र ने राजा शुद्धोदन के परिवार में महामाया की कोख से अवतरित हुए। बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ के जन्म के सात दिन बाद ही माता माया संसार से चल बसी तथा उनका पालन-पोषण महाप्रजापति गौतमी के द्वारा हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही गंभीर तथा मननशील थे। उन्हें हास विलास, परिहास की अपेक्षा चिन्तन के प्रति अनुराग था। उनकी गम्भीर प्रकृति को देखकर राजा शुद्धोदन ने उनके आमोद-प्रमोद और हास-विलास हेतु सामग्री उपलब्ध कराने की योजना बनायी। किंतु सिद्धार्थ को ये सामग्री जन्मजात गुणों के कारण अधिक दिनों तक अपने में आबद्ध नहीं रख सकी। बाल जीवन की एक साधारण सी घटना ने सिद्धार्थ के मन की दिशा ही बदल दी। राजा शुद्धोदन ने सिदार्थ का विवाह राजकुमारी यशोधरा के साथ किया। यशोधरा ने उनके हृदय पर अधिकार करने में कोई कसर न उठा रखी तथा कुछ ही दिनों बाद एक पुत्र रत्न को जन्म दिया, जिसका नाम राहुल रखा गया। सिद्धार्थ ने पुत्र प्राप्ति को मार्ग में बाधा का अनुभव किया तथा अपने को मायाजाल में दिन-प्रतिदिन फंसा महसूस करने लगे। वे विरक्ति-सुख को ही जीवन का सार समझने लगे थे। संसार के पीड़ित मनुष्यों को देखकर बुद्ध अपने को रोक नहीं सके। विरक्ति की ज्वाला प्रचण्ड वेग से धधक उठी और राज-महल का ऐश्वर्य त्यागकर, पिता का प्यार भुलाकर, पत्नी का प्रेम ठुकराकर तथा नवजात पुत्र राहुल का मोह छोड़कर सिद्धार्थ शाश्वत सत्य के साक्षात्कार के लिए परिव्राजक के रूप में बन की कंटीली और दुरुह राहों पर निकल पड़े। राज प्रासाद की सुकोमल शय्या पर कल तक सुख-चैन की जिंदगी काटने वाला राजकुमार दर-दर का भिक्षु बन कर निकल पड़ा।

परिव्राजक सिद्धार्थ ज्ञान की प्यास को शान्त करने के लिए और शाश्वत सत्य की खोज के लिए कथक (अश्व) पर सवार हो अपने सारथी छंदक के साथ निकल पड़े। उषाकाल होते ही वे तीन राज्यों को पारकर अनोमा नदी के तट पर पहुँचे, जहाँ उन्होंने अपने सभी वस्त्रों और आभूषणों को उतार कर सारथी के साथ वापस भेज दिया। और इस प्रकार महात्यागी शाक्यवीर सिद्धार्थ राजसी भोग विलास को त्यागकर भिक्षा-

त्त करके वृक्षों के नीचे निवास करने लगे। अनोमा नदी के तट पर स्थित मल्लों के अनुप्रिया ग्राम में एक सप्ताह व्यतीत कर वे परमशान्ति की खोज यात्रा में राजगृह चल पड़े। राजगृह के राजा विम्बिसार ने उन्हें महापुरुष समझकर अपना ऐश्वर्य उनके चरणों में अर्पित कर दिया तथा अनुरोध किया कि संन्यास का परित्याग कर ऐश्वर्य का भोग करें, किन्तु गौतम विम्बिसार की बातों में न आकर फिर इस स्थान से चल पड़े तथा मगध देश में विचरण करते हुए उरुवेला (बोधगया) पहुँचे, जहाँ पर पाँच परिव्राजक भिक्षुओं के साथ निरंजना नदी में स्नान कर पीपल वृक्ष (बोधिवृक्ष) के नीचे ध्यानस्थ हो गये। ज्ञान प्राप्ति के लिए ध्यान लगाये कई सप्ताह गुजर गये फिर भी सिद्धार्थ को सफलता न मिल सकी। इस कठिन तपस्या को देखकर पाँचों भिक्षु आश्चर्य में पड़ गये तथा इस कठिन मार्ग को न समझकर और इस महात्मा को भ्रष्ट समझकर उरुवेला से अठारह योजन दूर सारनाथ चल पड़े। वाराणसी के सेठ यश की पत्नी जो उरुवेला प्रदेश की थी, पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से पीपल पेड़ के पास सिद्धार्थ से वर माँगने गयी। कार्य सफल होने पर उसने पीपल वृक्ष की पूजा करने का आयोजन किया तथा वैशाख पूर्णिमा के दिन प्रातः खीर के साथ वृक्ष के पास पहुँची। सुजाता ने स्वर्ण पात्र में खीर को पीले वस्त्र से ढँक कर सिद्धार्थ के सम्मुख रखा और उनसे अपने बनायी खीर खाने का अनुरोध किया। अरुणोदय से पूर्व सुजाता द्वारा लाये गये खीर खाकर सिद्धार्थ बुद्ध कहलाए। ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध के प्रथम उद्गार निम्न-लिखित थे :

> अनेक जाति संसारं संध्याविस्सं अनिविस्सं।
> गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
> गहकारक सिट्ठोसि पुन गेह न काहसि।
> सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसासितं॥

बुद्धत्व प्राप्ति के एक सप्ताह बाद तक सिद्धार्थ उरुवेला में धर्म-चिन्तन करते रहे तथा उन्होंने (कार्य एवं अकुशल धर्मों से अलग होकर) विचार वितर्क एवं विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख वाला प्रथम ध्यान लगाया। इस तरह बुद्ध चार प्रकार के ध्यान को प्राप्त कर पूर्व जन्मों की बात को जानने के लिए ध्यानस्थ हुए। प्राणी मात्र के जन्म-मरण के रहस्य ज्ञान को प्राप्त कर वे सारनाथ की यात्रा पर निकल पड़े, जहाँ पाँच परिव्राजक पहले से पहुँचे हुए थे।

काशी आदि काल मे सारस्त पीठ होने के कारण भारतीय ज्ञान और दर्शन का पीठ हो गया था। कदाचित इसीलिए बुद्ध ने अपने ज्ञान और दर्शन को कसौटी पर कसने के लिए काशी के निकट सारनाथ (ऋषि पतन समुदाय) के घने जंगलों को केन्द्र बनाया। पहले जिस बुद्ध को पाँच परिव्राजक ने साधनाभ्रष्ट समझा था, उन्होंने इस मृगदय में उन्हीं का पूर्ण आदर सत्कार किया। बुद्ध ने उत्तराषाढ़ पूर्णिमा के दिन उन भिक्षुओं को उपदेश दिया तथा बताया कि काम, वासना में लिप्त रहना एवं तपस्या द्वारा शरीर को तपाना दोनों ही अमान्य है। इनके बीच के मार्ग मध्यमार्ग का अनुसरण करना चाहिए। चार आर्य सत्य के अंतर्गत ये मार्ग हैं—सम्यक् संकल्प, दृष्टि, वाणी, कर्मान्त आजीविका, व्यायाम, स्मृति एवं समाधि, जिन्हें अष्टांग मार्ग नाम से जाना जाता है। बुद्ध ने चरम पथ का परित्याग करके श्रेष्ठ मध्य पथ को ग्रहण करने को कहा। यहीं उन्होंने बताया कि पथ दृष्टि को खोलने वाला, ज्ञान का निष्पादन करने वाला तथा शान्ति अभिज्ञा सम्बोधि एवं निर्वाण का साधक है। बुद्ध से प्रभावित होकर कुल श्रेष्ठ यश ने सारनाथ में बौद्ध धर्म ग्रहण किया। श्रावण प्रतिपदा से आश्विन पूर्णिमा तक बुद्ध ने सारनाथ

में निवास किया और वे वहाँ लगातार उपदेश देते रहे।

बुद्ध ने अपने दीर्घकालिक संन्यासी जीवन में स्थान-स्थान पर उपदेश दिया। समाज में इसका प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। बुद्ध का संदेश भिक्षु-संघ के सतत् प्रयास उद्योग सहिष्णुता, शुद्ध आचरण एवं समाधि, भावना से ओत-प्रोत तथा मानव कल्याण की भावना के कारण बहुत लोक-प्रिय हुआ। ४५ वर्ष तक धर्मोपदेश देते रहने के बाद बुद्ध ने अपना अंतिम वर्षावास वैशाली में व्यतीत किया। अपने को अस्वस्थ समझ कर वे कुशीनगर आ गये जहाँ उन्हें अपने परिनिर्वाण का आभास होने लगा। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को निकट बुलाकर कहा कि बौद्ध धर्म के पवित्र तीर्थ स्थान वही होंगे जो जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन तथा महापरिनिर्वाण से सम्बन्धित होंगे। इसमें क्रमश: कपिलवस्तु, बोध गया, सारनाथ एवं कुशीनगर है। इस प्रकार बुद्ध ने कई वर्षों तक बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय, विचरण करते हुए वैशाख पूर्णिमा के अन्तिम प्रहर में महापरिनिर्वाण को प्राप्त किया तथा अपने संदेश में कहा कि मेरे परिनिर्वाण के बाद मेरे उपदेश एवं शिक्षा में परिवर्तन का अधिकार भिक्षुसंघ को होगा।

●

जीवन-पथ

—हिन्दी अनुवाद : मृणाल पांडे

(थेर-थेरी गाथा पाली में बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा रची गई मुक्तक-काव्य रचनाओं का एक ऐतिहासिक संकलन है। यह संकलन तीन बौद्ध पिटकों (त्रिपिटकों) में से दूसरे पिटक (सुत्त-पिटक) के पाँचवें खण्ड में है। अनुमान है कि ई० पू० ८० में पहले-पहल यह रचनाएँ लिपिबद्ध की गयी। कालान्तर में पाँचवीं या छठी सदी में काँचीपुर (वर्तमान काँजीवरम् नगर) के धम्मपाल (धर्मपाल) ने इन मुक्तकों को त्रिपिटक पर पाली में लिखी अपनी टीका 'परमात्व छीपनी' में शामिल किया। उन्होंने हर गाथा (मुक्तक) के साथ गाथाकार बारे में एक छोटी टिप्पणी भी जोड़ दी। १९०९ में श्रीमती रीस डेविस ने इस संकलन का 'साँग्स ऑफ द अर्ली बुद्धिस्ट्स' शीर्षक से, पाली टेक्स्ट सोसायटी के तत्वावधान में अंग्रेजी में अनुवाद किया। प्रस्तुत अनुवाद श्रीमती रीस डेविस के अनुवादों पर आधारित है।)

ब्राह्मण-दासी संवाद

पुन्निका :

मालकिन के घूँसों के भय से, घोर शीत के बीच भी,
मैं तो पानी भरने जाती रही झरने तक।
पर क्यों रे ब्राह्मण तुझे किस का भय है भला,
जो इस किटकिटाते जाड़े में तू भी चला ?
अरी पुन्निका, तू जानती तो है
कि ऐसे सुकर्म से पुण्य मिलेगा,
और उस पुण्य से कट जाएँगे सभी पाप।
यौवन और बुढ़ापे में किए सभी कुकर्म
एक डुबकी लगाते ही बस गुड़प्प ॥

वाह रे मूरख, तू मुझे मूर्ख बनाता है
यह कह कर कि जल में डुबकी लगाने से पापमुक्ति होती है ?
तब तो तमाम मछलियाँ, कछुए, मेंढक, जलसर्प,
मगरमच्छ और हर प्रकार के जलचर
सीधे पहुँचेंगे बैकुण्ठ।
और वे ही क्यों, तब तो तमाम कसाई, शिकारी
चोर, उठाईगीर और हत्यारे बस एक गोता लगाएंगे
और हो जाने चाहिए कुकर्मों से मुक्त ?
और अगर ऐसी धुलाई करता है रे यह जल
तब तो तू खबरदार रह, कहीं धुल न जाएँ
तेरे कुकर्मों के साथ तेरे सुकर्म भी फटाफट।
तो समझ ले फिर यूँ कंपकंपाते डुबकी लगाने से
कहीं अच्छा है कि बिना नहाए अपनी खाल बचा ले तू ॥
जिनका माथा फिर गया है उन्हें ही तू अपने श्रमणपंथ पर ले जा,
री मूर्ख औरत, मैं तुझे अपने गीले वस्त्र भेंट करता हूँ।
अपने पास रख अपने वस्त्र ! मुझे वस्त्रों की जरूरत नहीं
यदि सचमुच तू पाप से डरता है, तो सचमुच न कर
तू कोई कुकर्म, खुलकर या छिपा कर भी।
और अगर कर बैठा तो जान ले भली तरह,
डुबकी लगाने से वे धुलने वाले नहीं।
जा तू बुद्ध को ढूँढ मूर्ख, और उनके संघ की शरण ले,
उनके प्रवचनों मे मिलेगा तुझे ज्ञान और कुकर्मों का सच्चा बोध (२४६)

नया घर

सिवक :

एक अस्थायी सा घर है जीवन भी
कभी यहाँ बन जाता है, कभी वहाँ, फिर-फिर टूटता बनता रहता है यह लगातार।
मैं खोजता रहा हूँ इस घर को बनाने वाला
बड़ा दुःखद है जन्म से गुजरना बार-बार
पा लिया तुम्हें ओ गृह-निर्माता, पा लिया तुम्हें आखिरकार !
हाथ जोड़ता हूँ अब मेरे लिए न गढ़ना नया घर
मैंने दीवालें ढहा दी है, छत तोड़ दी है इस घर की,
अभी मैं चाहता नहीं कि यह टिके,
चाहता हूँ कि एक झोंका आए और बिखर जाए यह
कभी फिर न बनने के लिए।

काकड़ी घाट की अनुभूति

मोहन सिंह मनराल
सुरईखेत, अलमोड़ा (उ० प्र०)

अपनी हिमालय की यात्राओं में स्वामी विवेकानन्द ने कुमाऊँ की धरती को अपनी चरण-रज से पवित्र ही नहीं किया अपितु अपनी उप-स्थिति से इसमें अंतर्निहित अपार आध्यात्मिक संभावनाओं को भी उजागर किया है। इसी विषय से सम्बन्धित एक ऐसे स्थल की यहाँ चर्चा की जा रही है जहाँ पर स्वामीजी ने अपनी पहली कुमाऊँ यात्रा के दौरान एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल की थी। यह स्थान अल्मोड़ा-नैनीताल रोड पर एक नदी घाटी में स्थित है, जिसकी दूरी अल्मोड़ा से २५ कि०मी० व नैनीताल से भी लगभग इतनी ही है। इस स्थान का नाम है—काकड़ीघाट जहाँ वह विशाल पीपल का वृक्ष आज भी खड़ा है जिसके नीचे स्वामीजी ध्यानमग्न हुए थे।

जुलाई सन् १८९० ई०, में गुरुभाई अखण्डानन्द जी के साथ हिमालय में साधना व सत्य के साक्षात्कार हेतु निकले स्वामीजी ने एक सप्ताह का समय नैनीताल में श्री रामप्रसन्न भट्टाचार्य के घर पर बिताया। अपने अगले पड़ाव अल्मोड़ा, के लिए वे एकान्त विचरण के निर्णय से गुरुभाई से पृथक वन के रास्ते चल पड़े। तीसरे दिन उन्होंने काकड़ीघाट नामक इस स्थान पर निवास किया। इस स्थान का महात्म्य उन्होंने अपने अन्तःचक्षुओं से देख लिया और इसे साधना के लिए एक उपयुक्त स्थल बताते हुए वे बोले—'**This place is grand, what a delightful spot** for meditation' (यह स्थान शानदार है। ध्यान के लिए कितना आनन्ददायक स्थल है।)

इस स्थल के बारे में स्वामीजी की उक्ति का प्रमाण इसके भूत व भविष्य के इतिहास को देखने से मिल जाता है। जिस पहाड़ी की तली में पश्चिमी ढाल के अन्त में यह स्थान स्थित है उसे पुराणों में काषाय पर्वत कहा गया है और इस स्थल को विष्णु क्षेत्र—

कौशिकि शाल्मली मध्ये पुण्यकाषाय पर्वतः।
तत्रपश्चिमे भागे वै क्षेत्रं विष्णोः प्रतिष्ठितम्।।

कौशिकि (वर्तमान कोसी) व शाल्मली (वर्तमान साल) नदियों के मध्य काषाय पर्वत स्थित है जिसके पश्चिम में विष्णु क्षेत्र स्थित है। स्मरण रहे कि इसी पर्वत के शिखर पर स्थित माँ श्यामा देवी के मंदिर के पास ही किसी गुफा में स्वामीजी ने सन् 1898 में अपनी तीसरी अल्मोड़ा यात्रा के दौरान तीन दिन लगातार ध्यान में बिताये थे। इसी काकड़ीघाट नामक स्थान को कुमाऊँ के एक परमसन्त श्री सोमवारी गिरी महाराज ने अपनी साधना स्थली बनाया था, जिनका साधनाकाल सन् 1860 से 1930 के मध्य माना जाता है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि स्वामीजी के इस प्रथम भ्रमण (1890) के उपरान्त सोमवारी महाराज ने इसे अपना चिर साधना स्थली में परिणीत किया था, पर यह भी संभव है कि स्वामीजी के आगमन के समय भी

वे इस पुण्य स्थल से जुड़े रहे हों। तीन बार कोसी की धारा में स्नान व मछलियों को भोजन वितरित कर, पूरी रात समाधिमग्न रहने वाले शिवमय सन्त सोमवारी महाराज प्रतिदिन ४० से ५० भक्तों को प्रसाद वितरित करवाते थे जिनका भूत व भविष्य वे अपनी अलौकिक शक्ति से जान लेते थे। सोमवार को भण्डार करने के कारण सोमवारी के नाम से विख्यात इन सन्त की अनेकों अलौकिक कथाएँ यहाँ से जुड़ी हैं। इस पावन साधनास्थली पर ही स्वामी विवेकानन्द को वह अनुभूति हुई जिसने उनकी जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या का समाधान किया था।

कोसी के शीतल जल में स्नान करने के उपरान्त वृहत् पीपल के वृक्ष के नीचे सघन मौन और स्वच्छन्द एकान्त ने स्वामीजी को गहन ध्यान में डूब जाने में सहायता दी। वे ध्यान को अतल गहराइयों में डूबते ही चले गये और उनका शरीर जड़वत् पड़ा रहा। गुरुभाई कुछ घबराये मगर प्रतीक्षा के सिवाय उनके लिए कोई विकल्प न था। लम्बी प्रतिक्षा का अंत हुआ सहजावस्था में लौटकर स्वामीजी उनसे बोले— "देखो गंगाधर। इस वृक्ष के नीचे एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त बीत गया। आज एक बड़ी समस्या का समाधान हो गया। मैंने जान लिया कि समष्टि और व्यष्टि (विश्व ब्रह्माण्ड और अणु ब्रह्माण्ड) दोनों एक ही नियम से परिचालित होते हैं।" स्वामीजी ने डायरी में लिखा—'सृष्टि के आदि में शब्द ब्रह्म था।'

इस प्रकार स्वामीजी ने इस स्थान पर जो गहन अनुभूति प्राप्त की वह 'मानव व ब्रह्माण्ड के एकत्व' के सम्बन्ध में एक आध्यात्मिक शोध को जन्म देता है! मानव उस ब्रह्माण्ड का एक लघु रूप है और स्वयं ईश्वर ने अपने शरीर में विश्वरूप का दर्शन करवाया है। तभी स्वामीजी ने कहा—'मैंने जीवात्मा में परमात्मा के ऐक्य का अनुभव किया। मैंने अत्यन्त क्षुद्र अणु में विराट ब्रह्माण्ड का दर्शन किया है। विश्व में जो कुछ भी है वह इस छोटे से शरीर में विद्यमान है। देखा कि प्रत्येक परमाणु में सम्पूर्ण विश्व निहित है।'

काकड़ीघाट की इस अनुभूति को, जो आज के वैज्ञानिक युग के आविष्कारों के रहस्य को उजागर करती है, स्वामीजी ने परवर्ती काल में पश्चिमी देशों व भारत में अपने व्याख्यानों में अनेक बार व्यक्त किया था। अपने एक व्याख्यान में 'मन की सामर्थ्य' विषय पर बोलते हुए उन्होंने कहा था—"सूक्ष्मतम को हम आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर। जो कुछ छोटे परिमाण में इस शरीर में है वही बड़े परिमाण में विश्व में है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। यह हमारा विश्व ठीक इसी प्रकार का है। बहिरंग में स्थूल घनत्व है और जैसे-जैसे यह ऊँचा चढ़ता है वैसे-वैसे सूक्ष्मतर होता जाता है और अन्त में परमेश्वर रूप बन जाता है।"

इस सूक्ष्म तत्व को जानना मानव जीवन का लक्ष्य है और जानने का अर्थ है हो जाना। इसी लक्ष्य की ओर उन्मुख करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"शास्त्र चाहता है कि तुम शक्तिशाली बनो, उन्नति कार्य अपने ही हाथों में लो प्रकृति के भरोसे मत छोड़ो और इस छोटे से जीवन के उस पार हो जाओ। यही वह उदात्त ध्येय है।"

देवलोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट ।

सरल और निरभिमानी खोका महाराज

मठ में दशहरा और गङ्गापूजा प्रति वर्ष किया जाता है। पुजारी मन्दिर में नित्य ही ठाकुर पूजा करके उसी पुष्पपात्र और कुछ फल तथा मिष्ठान्न आदि लेकर गङ्गा घाट आते एवं घाट की सीढ़ो के निकट जल के खूब निकट बैठ कर गङ्गापूजा करते, फल-मिठाई आदि गंगाजी को निवेदित करते। इस निवेदित फल-मिठाई आदि के प्रार्थियों में बालक स्वभाव खोका महाराज भी एक थे। यद्यपि तैरना नहीं जानते थे, तब भी सीढ़ी पर कमर तक जल में खड़े होकर हाथ बढ़ाकर गङ्गा को निवेदित फल-मिठाई हँसते-हँसते लेते एवं छोटे बच्चे की तरह वहीं खड़े-खड़े खाते। उस वर्ष भी हम तीन-चार ब्रह्मचारी गङ्गापूजा का प्रसाद खाएँगे सोच कर, गङ्गापूजा के दिन यथासमय गंगाजल में उतर कर प्रतीक्षा कर रहे थे। उसी समय पूजनीय खोका महाराज भी आये एवं दो-तीन सीढ़ी जल में उतरकर गङ्गापूजा का प्रसाद लेने लगे। हम लोग डुबकी मार खोका महाराज का पैर पकड़ कर खींचने लगे। वे भी अपने को असहाय मान कर खिलखिला कर हँसते हुए एक तरह से कूद कर मेरा गला पकड़ लिया। मैं खोका महाराज को गोद में लेकर गङ्गाजल से निकल आया। उस वर्ष गङ्गापूजा का प्रसाद खाना इस प्रकार पूरा हुआ।

खोका महाराज इतने सरल, सहज और निरभिमानी थे कि, उनको हमलोग अपने में से एक समझते। वे ठाकुर के एक अन्तरङ्ग पार्षद हैं यह हम भूल ही जाते। वे हमलोगों के परम दरदी थे—सभी साधु उनको खूब प्रेम करते। वे किसी की सेवा नहीं लेना चाहते थे और स्वयं को बालक ही समझते थे। एक दिन देखा कि वे एक छोटी बाल्टी लेकर गङ्गा में उतर रहे हैं। मैं उस समय गङ्गा में स्नान कर रहा था। बाल्टी में क्या है यह पूंछने पर वे थोड़ा हँस कर बोले! 'धोने के लिए थोड़ा कपड़ा लाया हूँ, तुम्हारे स्नान का पानी गंदा नहीं करूँगा इसीलिए प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम्हारा स्नान हो जाने पर कपड़ा धोऊँगा। उनकी बातें सुनकर मैं जल्दी-जल्दी निकलकर उनके हाथ से बाल्टी खींच लिया एवं तीन कपड़ा धोकर रंग करके सुखाकर उनको दे दिये। वे सामान्य सेवा लेने में भी संकोच अनुभव करते थे। वे खूब कम खाते थे। इस समय उनका बंधा हुआ दाँत नहीं था, यद्यपि सब दाँत गिर चुके थे। थोड़ा-सा दाल-भात मिलाकर खा जाते थे। अपने भाव में मठ के अनेक काम-काज करते थे। गरीब दुखियों के प्रति उनकी आदर दृष्टि थी। वे हुक्के से तम्बाकू पीते थे। तम्बाकू पीते उनको पाँच मिनट भी नहीं लगता था। रात्रि में भी सोने के पहले वे एक चिलम तम्बाकू पीकर सोने जाते।

खोका महाराज का ठाकुर दर्शन

एक दिन संध्या के बाद उनका हाथ, पैर, शरीर दबाने का सुयोग मुझे मिला था। उस समय रात्रि में सोने के पहले वे जो तम्बाकू पीते उसको भी सजा देता था। कुछ दिन बाद एक दिन मैं उनके बिस्तर पर बैठकर उनका शरीर, हाथ, पैर दबा रहा था इसी समय वे बोले; 'शंकर, आज रात्रि में सोने के पहले और तम्बाकू नहीं खाऊँगा।' मेरी सेवा की किसी त्रुटि के कारण ही तम्बाकू खाना बन्द कर रहे हैं वह सोचकर मन में खूब कष्ट हुआ। इसीलिए तम्बाकू खाना क्यों बन्द कर रहे हैं यह बताने के लिए हाथ जोड़ उनसे बारम्बार अनुरोध करने लगा। मेरे बार-बार पूछने पर वे थोड़ा हँस कर बोले; 'तुम्हारा कोई दोष नहीं है। कल गम्भीर रात्रि में ठाकुर आकर मेरे बिछौने के पास बैठ कर थोड़ी विरक्ति के भाव से बोले—"खोका! तुम्हारे मुँह से इतनी तम्बाकू की गन्ध आ रही है कि तुम्हारे पास नहीं आ सक रहा हूँ।"—यह कह कर वे चले गये। इसीलिए सोच रहा हूँ, रात्रि में सोने के पहले और तम्बाकू नहीं पिऊँगा।' मैं तो सुनकर आश्चर्य चकित हो गया। ठाकुर के दर्शन की बात वे इतने सहज भाव से बोले—यह मानो अत्यंत साधारण घटना हो। मैं तो सुनकर स्तम्भित हो गया—मेरे मुँह से आवाज नहीं निकल रही थी। मैं सोच रहा था, कि जिस खाट पर ठाकुर आकर बैठे हैं, उस खाट पर मेरा बैठना ठीक नहीं होगा। ठाकुर के प्राकट्य की बात सोचते ही मुझे रोमाञ्च हो रहा था। मैं जल्दी से खोका महाराज की खाट से उतरकर पास में घुटने के बल बैठकर उनका शरीर, हाथ, पैर दबाने लगा एवं ठाकुर के साथ उनलोगों का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध था यह सोचते-सोचते उस रात्रि में खोका महाराज को प्रणाम करके विदाई ली। वे भी ठाकुर के अविर्भाव की बात कह कर खूब गम्भीर हो गये। जिस खाट पर ठाकुर बैठे थे। उस खाट को मैंने मन-ही-मन बारम्बार प्रणाम किया। उसके बाद उन्होंने भी तम्बाकू खाना धीरे-धीरे बन्द कर दिया एवं बाद में छाती में बीमारी के सन्देह से उन्होंने तम्बाकू खाना एक दम छोड़ दिया।

महापुरुषजी के पत्र में श्री श्री माँ के ऊपर निर्भर करने का उपदेश :

मेरी एक और चिट्ठी के उत्तर में महापुरुषजी ने मद्रास मठ से १-६-१६२१ को लिखा :

श्रीमान् शंकर चैतन्य,

तुम्हारा पत्र यथा समय मिला। तुम शारीरिक रूप से अच्छे हो जान कर प्रसन्न हुआ। श्री श्रीमाँ की कृपा से तुम अच्छे ही रहोगे - कोई भय नहीं। वे जैसे रखेंगी वैसे रहना। भक्त का स्वभाव बिल्ली के बच्चे जैसा। माँ जहाँ रखेंगी वही रहेगा। अच्छा नहीं लगने से 'म्याऊँ, म्याऊँ' करता हुआ केवल पुकारेगा, कहीं नहीं जाएगा।

भक्त का यही स्वभाव है—माँ, जो करे, जहाँ पर जिस अवस्था में रखे, वही अच्छा। कष्ट होने से केवल 'माँ माँ' करके बुलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करेगा। उसके बाद माँ जो करें वही अच्छा। मेरा आन्तरिक आशीर्वाद तुम जानना। इति—

तुम्हारा शुभाकांक्षी
शिवानन्द

भाद्र महीना शुरू होते ही मुझे मलेरिया बुखार शुरू हो जाता। ज्वर के समय महापुरुष जी का विशेष अभाव अनुभव होता। ज्वर में पड़ने के पहले ही उनको एक चिट्ठी लिखा था। उसके उत्तर में बंगलोर से ता० १४-८-१६२१ को उन्होंने लिखा।

श्रीमान् शंकर चैतन्य,

तुम्हारा एक पत्र कई दिन पहले मिला था, उसका उत्तर देना नहीं हो पाया। उसके बाद सुना तुमको ज्वर हुआ था। अभी कैसे हो? अन्नपथ्य किया है क्या? इसी समय मठ में ज्वर आरम्भ होता है। जितना हो सके खूब सावधान रहना। अभी कितने लोग बीमार हैं? मठ का और समाचार लिखना। शरीर का सुखदुख तो जितना दिन शरीर रहेगा उतना दिन रहेगा। भगवान के चरणों में विश्वास, भक्ति और उनके भक्तों के ऊपर विश्वास, भक्ति-प्रेम सर्वदा सब अवस्था में तुमको और तुम लोगों को रहे, यही मेरी आन्तरिक प्रार्थना उनके श्री चरणों में। प्रार्थना करता हूँ— तुम सभी शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रहो और खूब साधन भजन में डूब जाओ। मैं पूरा विश्वास करता हूँ इसी जीवन में तुम लोग विश्वास, भक्ति, ज्ञान, प्रेम विवेक वैराग्य और पवित्रता से पूर्ण हो जाओगे। हम लोग प्रभु की इच्छा से शारीरिक रूप से अच्छे ही हैं। तुम लोगों का कुशल प्रार्थनीय है।

मठ का सब समाचार देना। सुना 'देवेन, काशी गया है, हरि महाराज की सेवा के लिए रमानन्द भी गया है। हरि महाराज का शरीर खूब खराब है। शरत महाराज, भूमानन्द, डा० दुर्गापद सब गये हैं। प्रभु की इच्छा से वे इस यात्रा में बच जाएँ तो सभी को आनन्द होगा। प्रभु की जो इच्छा है वही होगा। तुम और तुम सब मेरा आन्तरिक आशीर्वाद और स्नेह प्रीति जानना।

इति—
तुम लोगों का शुभाकांक्षी
शिवानन्द

बेलूड़ मठ और मद्रास मठ में दुर्गा पूजा

क्रमशः दुर्गा पूजा आ गयी। मद्रास मठ में भी इसी वर्ष राजा महाराज की चेष्टा से उनकी उपस्थिति में महासमारोह सहित प्रतिमा में दुर्गा पूजा हुई थी। महापुरुष महाराज इस पूजा के सम्बन्ध में वेलुड़ मठ में किसी संन्यासी को लिखा था :

यहाँ पर माँ की पूजा अत्यन्त आनन्द और उत्साह के साथ सुचारुरूप से सम्पन्न हो गयी है। इस देश में इस प्रकार का कार्य एकदम नया है। लोगों को देख सुन कर खूब आनन्द हुआ। सात्त्विक भाव से शास्त्र विहित पूजा से इस देश की पंडित मण्डली खूब प्रसन्न हुई है। और श्यामा पूजा भी प्रतिमा में होगी महाराज की इच्छा।

बेलूड़ मठ के उस वर्ष की पूजा में महापुरुषजी का अभाव हम सभी ने आन्तरिक भाव से अनुभव किया। पूजा के बाद ही विजया प्रणाम के साथ मठ की पूजा का पूरा समाचार लिख कर महापुरुष महाराज को पत्र भेजा। उत्तर में उन्होंने केवल अपना ही नहीं, राजा महाराज का आशीर्वाद भी भेजा। मद्रास मठ से ५-१०-१६२१ तारीख को उन्होंने लिखा :

श्रीमान् शंकर चैतन्य,

तुम्हारा पत्र मिला। मठ की पूजा का समाचार जान कर बहुत आनन्द हुआ—सभी प्रभु की महिमा। हम सब स्थूल शरीर से मठ में रहें अथवा न रहें, वे अपने प्रधान केन्द्र और मूल स्थान के समस्त कार्यकलाप हमलोगों के उत्तराधिकारी बच्चा के द्वारा करा रहे हैं एवं करा लेंगे यही मेरा दृढ़ विश्वास है। वे युगावतार, युगधर्म स्थापना के लिए ही उन्होंने मनुष्य शरीर धारण किया एवं बेलूड़ मठ ही उनका मूल एवं प्रधान केन्द्र। जो भी हो, तुम लोगों ने उनकी कृपा प्राप्त करके आनन्द लाभ किया है, जान कर

मुझे बहुत आनन्द मिला। प्रभु तुम लोगों को भक्ति-विश्वास देकर पूर्ण करें। तुम्हारा शरीर आजकल कैसा है लिखा नहीं। अमृतेश्वरानन्द कैसा है यह भी कुछ नहीं लिखा। लिखना। पुन: मेरा आशीर्वाद जानना। इति—

शुभाकांक्षी
शिवानन्द

पुन :—हमलोगों का विजया का शुभाशीर्वाद जानना।

पूजा के बाद से ही प्राय: बुखार आने लगा। महापुरुषजी राजा महाराज के साथ दक्षिण भारत की यात्रा पूरी करके नवम्बर महीने के अन्त में भुवनेश्वर आये।

स्वामी अभेदानन्द का स्वदेश आगमन

लगभग पच्चीस वर्ष तक पाश्चात्य देशों में वेदान्त का प्रचार करके स्वामी अभेदानन्द महाराज १९२१ ई०, १० नवम्बर को वेलुड़ मठ वापस लौटे। राजा महाराज, महापुरुष महाराज उस समय दक्षिण भारत में थे। उनके निर्देशानुसार स्वामी अभेदानन्द महाराज को कलकत्ता स्टीमर घाट से वेलुड़ मठ लानेवाले दो साधुओं को जहाज के घाट पर खबर मिली की जहाज अढ़ाई बजे के पहले नहीं आयेगा। यह सुनकर साधु लोग भोजन के लिए वेलुड़ मठ वापस आ गये। इसी बीच हवा और स्रोत एवं अनुकूल हवा से वह जहाज साढ़े बारह बजे घाट पर आ गया। अभेदानन्द महाराज ने जहाज से उतरकर देखा कि कोई साधु नहीं आया है तो स्वयं ही मोटर से डेढ़ बजे मठ में आ गये। इसके पहले ही महापुरुषजी अपने घर में स्वामी अभेदानन्द महाराज को रखने का निर्देश दिया था। उसी के अनुसार उनको महापुरुष महाराज के घर ले जाया गया। उनके साथ बहुत सा सामान था, वह सब दूसरे दिन आया एवं बहुत सी पुस्तकें और प्रेस की चीजें, डिस्पेन्सरी के पास में एक घर में रखी गयी। स्वामी अभेदानन्द महाराज जब मठ में पहुँचे तब ठाकुर घर बन्द था। उन्होंने मठ बरान्डे से ठाकुर को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। संन्यासियों से घिर कर मठ घर के ऊपर महापुरुष जी के घर में आये। खूब प्रसन्न मुख थे। जब सुना कि, उनको महापुरुष महाराज ने अपने घर में रखने के लिए लिखा है तब खूब प्रसन्न हो कर बोले, 'दादा कब आएँगे?' उनका जहाज जब गंगाजी में प्रवेश किया तभी उन्होंने गंगा स्नान कर लिया था। सभी उनकी गंगा भक्ति देखकर खूब आश्चर्यचकित हुए।

मैंने उनके लिए थाली-कटोरी में सब प्रकार का प्रसाद सजा कर लाया था। वे जल्दी हाथ मुँह धोकर प्रसाद खाने के लिए बैठे। उनके लिए चेयर टेबुल की व्यवस्था की गयी थी। भोग का प्रसाद पहले ही सिर से लगा कर प्रणाम करके हाथ से खाया एवं खाते-खाते आनन्द प्रकाश करने लगे। घर संन्यासी एवं ब्रह्मचारियों से भरा हुआ था। वे हाथ चटखाते हुए खाते-खाते हँसते हुए बोले : 'बहुत दिन से ऐसा पेट भरकर खाया नहीं। आज राक्षस की तरह ढेर सा खा गया।' विशुद्ध बंगाली में ही बोले। इतने वर्ष विदेश में रहने पर भी वे बंगाली भाषा भूले नहीं यह देखकर सभी खूब आश्चर्यान्वित हुए। बाद में चेयर टेबुल पर बैठे ही एक सिगरेट पीया एवं कहा : 'अब मैं थोड़ा विश्राम करूँगा। उसके बाद उठकर गुड़गुड़ी से तम्बाकू पिऊँगा।' वे सबका प्रणाम ग्रहण करके विश्राम करने गये।

सायंकाल पाँच बजे केवल थोड़ी चाय पी। उसी समय अनेक भक्त उनका दर्शन करने आये थे। गुड़गुड़ी में तम्बाकू देकर स्वामीजी के घर

के पास वाले बरान्डे में उनको बैठाया गया। वे इसी चेयर पर बैठ कर धीरे-धीरे तम्बाकू पीने लगे। दो चार बार कश खींचकर हँसते-हँसते बोले : पच्चीस वर्ष बाद आज गंगाजल में स्नान करके—गंगा जल से बना हुआ ठाकुर का प्रसाद खाकर तृप्ति का अनुभव किया,' इत्यादि बहुत सी बातें कहकर सबको आनन्द देने लगे। एक भक्त ने प्रश्न किया : 'आपको बंगला भाषा में बातचीत करने में असुविधा नहीं हो रही है ?' वे हँसते हुए बोले : 'ठाकुर जिस भाषा में बातचीत करते वही तो हमलोगों की देवभाषा है। विदेश में मन ही मन चिन्तन और प्रार्थना सब बंगला भाषा से ही करता। बंगला भाषा की तरह पवित्र और मधुर भाषा और कोई है क्या ! मैं तो विदेश में अपने को बंगाली जानकर गौरव अनुभव करता था।' तम्बाकू पीते-पीते भक्तों के साथ यही सब बातें हुईं। कुछ देर बाद आरती घण्टा बजाने के बाद वे भी तम्बाकू पीना बन्द कर अपने कमरे में गये। बेलुड़ मठ में उस समय भी बिजली का प्रकाश, पंखा नहीं था। उनके घर में एक लालटेन जला दिया एवं धूप जला दिया गया। वे घर में अकेले चुपचाप बैठे रहे। रात्रि में भी ठाकुर का प्रसाद ला दिया—वहा उन्होंने खाया। उनका आहार बहुत सामान्य था। वे कहते : 'योगियों को अल्पाहार करना चाहिए।' इस प्रकार प्रथम तीन-चार दिन उनकी व्यक्तिगत सेवा करने का सुयोग मुझे मिला था। एवं उसी सेवा के माध्यम से उनके साथ घनिष्ठ भाव से परिचित हुआ था। उनके पास प्रतिदिन भारत के विभिन्न भागों से भक्त लोग मिलने एवं बातचीत करने के लिए आते। वे भी उनके साथ विभिन्न विषयों पर बातचीत एवं चर्चा करते। दूसरे दिन से प्रातःकाल वे अपनी पुस्तक आदि सब वस्तुएँ स्वयं खड़े होकर डिस्पेन्सरी के पास वाले घर में रखते। सायंकाल लोगों के साथ मुलाकात करते। बहुत से लोग उनसे वक्तृता देने के लिए अनुरोध करने लगे।*

*२५ दिसम्बर (१९२१) सायंकाल सर देव प्रसाद सर्वाधिकारी महाशय के सभापतित्व में कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्रों ने स्वामी अभेदानन्द का यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में अभिनंदन किया। छात्रों के अभिनन्दन के उत्तर में उन्होंने प्राय: एक घण्टा तक एक मननीय प्रवचन किया। उस समय भी कलकत्ता में माइक का प्रचलन नहीं हुआ था. उनका कण्ठस्वर इतना मधुर था कि, पूरे हॉल के श्रोतागण उनकी वक्तृता अच्छी प्रकार सुनकर उनको धन्य-धन्य कहने लगे। बेलुड़ मठ से बहुत से साधु इस वक्तृता को सुनने गये थे।

*

□

अपने विचारों को दूसरे में प्रचार करने के लिए जल्दी नहीं करनी चाहिए।

हमको चाहिए—हृदय और मस्तिष्क का समन्वय।

यदि हृदय और मस्तिष्क में मतभेद हो, तो हृदय का अनुगमन करो।

—स्वामी विवेकानन्द

युगनायक स्वामी विवेकानन्द

ऋचा रश्मि
छात्रा, बी. एस. सी ऑनर्स
राजेन्द्र कॉलेज, छपरा।

आज विज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर है। किसी भी क्षेत्र को दुष्प्रवेश्य नहीं छोड़ा है। यह क्षेत्र कैसा भी क्यों न हो ? लगता है कुछ ही क्षणों में सारी प्रकृति उसके वश में होगी। यह स्थिति हमारी प्रगति पर प्रश्नचिह्न लगाती है कि इसे हम अपनी प्रगति माने या विनाश का पैगाम ? हमारे पास सुविधा की सभी चीजें हैं जो आज के युग में अपनी श्री सम्पन्नता का स्तर बनाती है। नित्यप्रति नये प्रयोग सुनने और पढ़ने को मिलते हैं जो एक ईश्वर निर्मित मानव मस्तिष्क की उपज होती है। हम इतने आगे बढ़ गए हैं कि पीछे मुड़कर अब अतीत को नहीं झाँकते। बस प्रतिस्पर्धा......प्रतिस्पर्धा! लेकिन इस भागम-भाग की जिंदगी में हृदय का एक कोना खाली है, जो सब कुछ पाने के बाद भी अशांत है। हृदय में समुद्र गर्जन की भाँति कोलाहल है। एक मेघ का बवंडर है जो अहर्निश सर्वनाश की ओर बढ़ता जा रहा है। पता नहीं यह आगे बढ़ने का कैसी मृगतृष्णा है जो हमें तिल-तिल कर मरने पर मजबूर करती है। पर यह भी सच है कि ऐसा होगा क्यों नहीं ? प्रतिस्पर्धा जो है... चाहे कोई गिरे, दबे या सताया जाए, हम तो आगे बढ़ेंगे हीं। दिनों-दिन हम अपने ही बनाए हुए चक्रव्यूह में फँसते जा रहें हैं। इतिहास पर गौर करें तो हमने कहीं ज्यादा प्रगति की थी। आज तो उसी सिद्धांत को अपना कर हमने खड़ा होना सीखा है। पर अब हमारे सोच अवश्य बदल गये हैं कि हम आधुनिक होते जा रहे हैं। जरूरत से ज्यादा संचय एक लक्ष्य बनता जा रहा है। यदि इस लक्ष्य से शांति मिलती तो कितना अच्छा होता, लेकिन ऐसा होता नहीं है। आखिर इसका क्या कारण है ? इसका कारण है कि हम भौतिकता की आँधी में इस तरह वह चले हैं कि हमारा वास्तविक स्वरूप हम से दूर भागता जा रहा है। वे सारे गुण लुप्त होते जा रहे हैं जो सही मायने में एक मानव के लिए निर्दिष्ट है। तो क्या करना होगा जिससे हम एक पूर्ण मानव का दर्जा हासिल कर सकें ? स्वामी जी ने कहा था - उठो जागो और तब तक चलते रहो जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाए।

बुद्ध के बाद यदि कोई युगनायक हुआ तो वह स्वामी विवेकानन्द। उनकी दूरदर्शी आँखों ने बहुत पहले ही देख लिया था आज के पतनोन्मुख समाज को और त्रस्त मानव को। तभी तो उन्होंने युग-युग से चले आ रहे शाश्वत सत्य को एक बार फिर से दुहराया था।

हमारे देश में प्राचीन पद्धति है कि शांति के लिए वन में जायें, गुफा में तपस्या करें और वहीं मर जाएँ। पर शांति लाभ के लिए यह गलत सिद्धांत है। शांति दूरस्थ प्रकाशपुंज नहीं। स्वर्ग का कल्पतरु नहीं, वह हमारे अंदर हर एक के अंदर स्थित है। हमारे आदर्श ऐसे न हों जो असम्भव हो। अत्यंत उच्च आदर्श रखने से राष्ट्र कमजोर हो जाता है और पतन की ओर अग्रसर होता है। पर आदर्श इतने भी नीचे न हों जिससे की हम व्यावहारिकता को भूल बैठें। जीवन में उच्च आदर्श तथा उत्कृष्ट व्यवहारिकता का सुन्दर सामंजस्य हो।

स्वामीजी ने कहा था--"तुम्हें सिर्फ वही नहीं सीखना है जो तुम्हारे पूर्वज और ऋषि

तुम्हारे लिए छोड़ गये हैं। वे गये, उनके मतवाद भी उनके साथ गये। अब तुम्हें स्वयं ऋषि बनना है। मनुष्य बनना है। तुम भी वैसे ही मनुष्य हो जैसे कि बड़े-बड़े व्यक्ति जो कभी पैदा हुए।

सच्चा मनुष्य वही है जो इतना शक्तिशाली हो जितनी की शक्ति स्वयं है। जिनका हृदय नारी के समान कोमल हो, जिसके हृदय में हर एक के प्रति प्रेम और सम्मान हो। तुम लोहे के समान दृढ़ और कठोर बने रहो, धर्म निरपेक्ष बनो पर अपने आदर्श के प्रति भी दृढ़ बनो। अपने धर्म, अपने इष्ट के प्रति इतनी भक्ति और विश्वास रखो कि चाहे कितनी भी उथल-पुथल क्यों न हो, तुम विचलित न हो। पथभ्रष्ट न हो। मैं मानता हूँ कि ये गुण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु, हाँ ऐसे हीं परस्पर विरोधी प्रतीत होने चाहिए। जिससे तुम मनुष्य बन सकते हो।" उन्होंने तो मनुष्य को अवतार के सदृश माना है। हमें स्वयं भी ईश्वर की संतान होने का गौरव होना चाहिए एवं दूसरे जीवित प्राणियों में भी सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। आज भारत भी अन्य देशों की अपेक्षा विकास में पीछे नहीं है पर एक चीज का हममें अभाव है। वह है संगठन-शक्ति की। ईर्ष्या हीं हमारे दासमुलक राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। प्रतिस्पर्धा के इस विनाशकारी युग में मानव हृदय से कोसों दूर चला जा रहा है। प्रकृति भी उसके प्रयोगों के समक्ष हाथ जोड़े दासी बनी खड़ी है। पर हम ध्यान न देकर शास्त्रोंपदेशों के विरूद्ध दिनोंदिन अपने को संकीर्णतर करते जा रहे हैं। विशाल बनना गहराई तक जाना, समूचे विश्व को अपना कुटुम्ब मानना, सार्वभौम भाव में उपनीत होना। यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। सभी धर्मों के प्रति सम्मान होना चाहिए।

आज हम भले ही संकीर्ण हो गये हों। पर पहले कभी हमारा हृदय भी बहुत विशाल था। तभी तो विश्वधर्म महासभा शिकागो में स्वामीजी ने सनातन हिन्दू धर्म के विषय में कहा था कि "हम भारतवासी किसी धर्म के प्रति सिर्फ सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते वरन् उसे सच्चे मन से अपनाते हैं। धर्म मतवाद में नहीं वरन् आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना उसका साक्षात्कार करना हीं धर्म है। संगठित हो जाओ, विचार करो क्योंकि, मनुष्य की गरिमा उसकी विचारशीलता के कारण है। शांत रहकर संचय करो और आध्यात्मिकता के डायनेमों बन जाओ। हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन रक्त है। यह शुद्ध एवं सशक्त बना रहे तो सब ठीक है। स्वामीजी के भीतर सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी भावधारा का महत्व आँकने की क्षमता मिली थी। भारत की धर्म चेतना ने उनके द्वारा पश्चिम में अपने आप को प्रकाशित किया। हमें चिंतन करना होगा। स्वामीजी के उपदेशों को सिर्फ पढ़ना ही नहीं बल्कि उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा। वह समय अब आ गया है। हमें अपने को विलासिता के पंक से निकालकर कर्म की ओर प्रवृत्त करना होगा। जो निःस्वार्थ और प्रपंचरहित हो।

हम सुख के पीछे दौड़ते हैं और दुःख हमारा पीछा करता है। अतः हमें अपरिग्रह का भावग्रहण करना होगा। आज स्वामीजी के विचार करोड़ों मानवों की आशा और विश्वास के प्रतीक हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य मात्र संचय और योगी बनना नहीं है। हमें अपने कर्मों को परमात्मा की ओर प्रवृत्त करना है। इसका एक मात्र साधन त्याग है। त्याग से यहाँ अभिप्राय है त्याग पूर्वक संसार का योग। समस्त जगत् उसी का प्रतिरूप है। "हम आगे बढ़ें, खूब प्रगति करें पर किसी को दबा कर, शोषित कर, कुचल कर नहीं बल्कि प्रेम और संगठन शक्ति के साथ।" यही आह्वान था, विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द का हम युवकों के प्रति।

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी.-१४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।